

अर्धमागधी आगम साहित्य : एक विमर्श

- प्रो. सागरमल जैन

भारतीय संस्कृति में अति प्राचीनकाल से ही दो समानान्तर धाराओं की उपस्थिति पाई जाती है-- श्रमणधारा और वैदिकधारा। जैन धर्म और संस्कृति इसी श्रमणधारा का एक अंग है। जहाँ श्रमणधारा निवृत्तिपरक रही, वहाँ वैदिकधारा प्रवृत्तिपरक। जहाँ श्रमणधारा में संन्यास का प्रत्यय प्रमुख बना, वहाँ वैदिकधारा में गृहस्थजीवन। श्रमणधारा ने सांसारिक जीवन की दुःखमयता को अधिक अभिव्यक्ति दी और यह माना कि शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर, अतः उसने शरीर और संसार दोनों से ही मुक्ति को अपनी साधना का लक्ष्य माना। उसकी दृष्टि में जैविक एवं सामाजिक मूल्य गौण रहे और अनासक्ति, वैराग्य और आत्मानुभूति के रूप में मोक्ष या निर्वाण को ही सर्वोच्च मूल्य माना गया। इसके विपरीत वैदिकधारा ने सांसारिक जीवन को वरेण्य मानकर जैविक एवं सामाजिक मूल्यों अर्थात् जीवन के रक्षण एवं पोषण के प्रयत्नों के साथ-साथ पारस्परिक सहयोग या सामाजिकता को प्रधानता दी। फलतः वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं पारस्परिक सहयोग हेतु प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं, यथा -- हम सौ वर्ष जीये, हमारी सन्तान बलिष्ठ हो, हमारी गाये अधिक दूध दें, वनस्पति एवं अन्न प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हों, हममें परस्पर सहयोग हो आदि। ज्ञातव्य है कि वेदों में वैराग्य एवं मोक्ष की अवधारणा अनुपस्थित है, जबकि वह श्रमणधारा का केन्द्रीय तत्त्व है। इस प्रकार ये दोनों धारायें दो भिन्न जीवन-दृष्टियों को लेकर प्रवाहित हुई हैं। परिणामस्वरूप इनके साहित्य में भी इन्हीं भिन्न-भिन्न जीवन-दृष्टियों का प्रतिपादन पाया जाता है।

श्रमण परम्परा के साहित्य में संसार की दुःखमयता को प्रदर्शित कर त्याग और वैराग्यमय जीवन शैली का विकास किया गया, जबकि वैदिक साहित्य में ऐहिक जीवन को अधिक सुखी और समृद्ध बनाने हेतु प्रार्थनाओं की और सामाजिक-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) और भौतिक उपलब्धियों के हेतु विविध कर्मकाण्डों की सृजना हुई। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य, जिसमें मुख्यतः वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ समाहित हैं, में लौकिक जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने वाली प्रार्थनाओं और कर्मकाण्डों का ही प्राधान्य है, इसके विपरीत श्रमण परम्परा के प्रारम्भिक साहित्य में संसार की दुःखमयता और क्षणभंगुरता को प्रदर्शित कर उससे वैराग्य और विमुक्ति को ही प्रधानता दी गई है। संक्षेप में श्रमण परम्परा का साहित्य वैराग्य प्रधान है।

श्रमणधारा और उसकी ध्यान और योग साधना की परम्परा के अस्तित्व के संकेत हमें मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की संस्कृति के काल से ही मिलने लगते हैं। यह माना जाता है कि हड़प्पा संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी पूर्ववर्ती ही रही है। ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ में भी ब्राह्मणों और वातरश्ना मुनियों के उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उस युग में श्रमणधारा का अस्तित्व था। जहाँ तक इस प्राचीन श्रमण परम्परा के साहित्य का प्रश्न है

दुर्भाग्य से वह आज हमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु वेदों में उस प्रकार की जीवन दृष्टि की उपस्थिति के संकेत यह अवश्य सूचित करते हैं कि उनका अपना कोई साहित्य भी रहा होगा, जो कालक्रम में लुप्त हो गया। आज आत्मसाधना प्रधान निवृत्तिमूलक श्रमणधारा के साहित्य का सबसे प्राचीन अंश यदि कहीं उपलब्ध है, तो वह औपनिषदिक साहित्य में है। प्राचीन उपनिषदों में न केवल वैदिक कर्म-काण्डों और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की आलोचना की गई है, अपितु आध्यात्मिक मूल्यों के अधिष्ठान आत्मतत्त्व की सर्वोपरिता भी प्रतिष्ठित की गयी है। आज यह सबसे बड़ी भ्रान्ति है कि हम उपनिषदों को वैदिकधारा के प्रतिनिधि ग्रन्थ मानते हैं, किन्तु उनमें वैदिक कर्मकाण्डों की स्पष्ट आलोचना के जो स्वर मुखरित हुए हैं और तप-त्याग प्रधान आध्यात्मिक मूल्यों की जो प्रतिष्ठा हुई है, वह स्पष्टतया इस तथ्य का प्रमाण है कि वे मूलतः श्रमण जीवन-दृष्टि के प्रस्रोत हैं।

यह सत्य है कि उपनिषदों में वैदिकधारा के भी कुछ संकेत उपलब्ध हैं किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि उपनिषदों की मूलभूत जीवन दृष्टि वैदिक नहीं, श्रमण है। वे उस युग की रचना हैं, जब वैदिकों द्वारा श्रमण संस्कृति के जीवन मूल्यों को स्वीकृत किया जा रहा था। वे वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति के समन्वय की कहानी कहते हैं। ईशावास्योपनिषद् में समन्वय का यह प्रयत्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उसमें त्याग और भोग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कर्म और कर्म-संन्यास, व्यक्ति और समष्टि, अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) के मध्य एक सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है।

उपनिषदों का पूर्ववर्ती एवं समसामयिक श्रमण परम्परा का जो अधिकांश साहित्य था, वह श्रमण परम्परा की अन्य धाराओं के जीवित न रह पाने या उनके बृहद् हिन्दू परम्परा में समाहित हो जाने के कारण या तो विलुप्त हो गया था या फिर दूसरी जीवित श्रमण परम्पराओं के द्वारा अथवा बृहद् हिन्दू परम्परा के द्वारा आत्मसात कर लिया गया। किन्तु उसके अस्तित्व के संकेत एवं अवशेष आज भी औपनिषदिक साहित्य, पालित्रिपिटक और जैनागमों में सुरक्षित हैं। प्राचीन आरण्यकों, उपनिषदों, आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, इसिभासियाइं, धेरगाथा, सुत्तनिपात और महाभारत में इन विलुप्त या समाहित श्रमण परम्पराओं के अनेक ऋषियों के उपदेश आज भी पाये जाते हैं। इसिभासियाइं, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में उल्लिखित याज्ञवल्क्य, नारद, असितदेवल, कपिल, पाराशर, आरुणि, उद्दालक, नमि, बाहुक, रामपुत्र आदि ऋषि वे ही हैं, जिनमें से अनेक के उपदेश एवं आख्यान उपनिषदों एवं महाभारत में भी सुरक्षित हैं। जैन परम्परा में ऋषिभाषित में इन्हें अर्हत् ऋषि एवं सूत्रकृतांग में सिद्धि को प्राप्त तपोधन महापुरुष कहा गया है और उन्हें अपनी पूर्व परम्परा से सम्बद्ध बताया गया है। पालित्रिपिटक के दीघनिकाय के सामञ्जससुत्त में भी बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों -- अजितकेशकम्बल, प्रकुधकाल्यायन, पूर्णकश्यप, संजयवेलट्ठिपुत्त, म्बल्लिगोशालक एवं निगण्ठनातपुत्त की मान्यताओं का निर्देश हुआ है, फिर चाहे उन्हें विकृत रूप में ही प्रस्तुत क्यों न किया गया हो। इसी प्रकार के धेरगाथा, सुत्तनिपात आदि के अनेक धेर (स्थविर) भी प्राचीन श्रमण परम्पराओं से सम्बन्धित रहे हैं। इस सबसे भारत में

श्रमणधारा के प्राचीनकाल में अस्तित्व की सूचना मिल जाती है। पद्मभूषण पं. दलसुखभाई मालवगणिया ने पालित्रिपिटक में अजित, अरक और अरनेमि नामक तीर्थकरों के उल्लेख को भी खोज निकाला है। ज्ञातव्य है कि उसमें इन्हें "तित्यकरो कामेसु वीतरागो" कहा गया है-- चाहे हम यह मानें या न मानें कि इनकी संगति जैन परम्परा के अजित, अरह और अरिष्टनेमि नामक तीर्थकरों से हो सकती है-- किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि ये सभी उल्लेख श्रमणधारा के अतिप्राचीन अस्तित्व को ही सूचित करते हैं।

वैदिक साहित्य और जैनागम

वैदिक साहित्य में वेद प्राचीनतम है। वेदों के सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों में दो प्रकार की मान्यताएँ उल्लिखित हैं। मीमांसकदर्शन के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित नहीं हैं। उनके अनुसार वेद अनादि-निधन हैं, शाश्वत हैं, न तो उनका कोई रचयिता है और नहीं रचनाकाल। नैयायिकों की मान्यता इससे भिन्न है, वे वेद-वचनों को ईश्वर-सृष्ट मानते हैं। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय नहीं, अपितु ईश्वरकृत हैं। ईश्वरकृत होते हुए भी ईश्वर के अनादि-निधन होने से वेद भी अनादि-निधन माने जा सकते हैं, किन्तु जब उन्हें ईश्वरसृष्ट मान लिया गया है, तो फिर अनादि कहना उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वर की अपेक्षा से तो वे सादि ही होंगे।

जहाँ तक जैनागमों का प्रश्न है उन्हें अर्थ-रूप में अर्थात् कथ्य-विषय-वस्तु की अपेक्षा से तीर्थकरों के द्वारा उपदिष्ट माना जाता है। इस दृष्टि से वे अपौरुषेय नहीं हैं। वे अर्थ-रूप में तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट और शब्द-रूप में गणधरों द्वारा रचित माने जाते हैं, किन्तु यह बात भी केवल अंग आगमों के सन्दर्भ में है। अंगबाह्य आगम ग्रन्थ तो विभिन्न स्थविरो और पूर्वधर-आचार्यों की कृति माने ही जाते हैं। इस प्रकार जैन आगम पौरुषेय (पुरुषकृत) हैं और काल विशेष में निर्मित हैं।

किन्तु जैन आचार्यों ने एक अन्य अपेक्षा से विचार करते हुए अंग आगमों को शाश्वत भी कहा है। उनके इस कथन का आधार यह है कि तीर्थकरों की परम्परा तो अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलेगी, कोई भी काल ऐसा नहीं, जिसमें तीर्थकर नहीं होते हैं। अतः इस दृष्टि से जैन आगम भी अनादि-अनन्त सिद्ध होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार तीर्थकर भिन्न-भिन्न आत्माएँ होती हैं किन्तु उनके उपदेशों में समानता होती है और उनके समान उपदेशों के आधार पर रचित ग्रन्थ भी समान ही होते हैं। इसी अपेक्षा से नन्दीसूत्र में आगमों को अनादि-निधन भी कहा गया है। तीर्थकरों के कथन में चाहे शब्द-रूप में भिन्नता हो, किन्तु अर्थ-रूप में भिन्नता नहीं होती है। अतः अर्थ या कथ्य की दृष्टि से यह स्वरूपा ही जैनागमों को प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त सिद्ध करती है। नन्दीसूत्र (सूत्र 58) में कहा गया है कि "यह जो द्वादश-अंग या गणपिटक है-- वह ऐसा नहीं है कि यह कभी नहीं या, कभी नहीं रहेगा और न कभी होगा। यह सदैव या, सदैव है और सदैव रहेगा। यह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य है।" इस प्रकार जैन चिन्तक एक ओर प्रत्येक तीर्थकर के

उपदेश के आधार पर उनके प्रमुख शिष्यों के द्वारा शब्द-रूप में आगमों की रचना होने की अवधारणा को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर अर्थ या कथ्य की दृष्टि से समरूपता के आधार पर यह भी स्वीकार करते हैं कि अर्थ-रूप से जिन-वाणी सदैव थी और सदैव रहेगी। वह कभी भी नष्ट नहीं होती है। विचार की अपेक्षा से आगमों की शाश्वतता और नित्यता मान्य करते हुए भी जैन परम्परा उन्हें शब्द-रूप से सृष्ट और विच्छिन्न होने वाला भी मानती है। अनेकान्त की भाषा में कहें तो तीर्थंकर की अनवरत परम्परा की दृष्टि से आगम शाश्वत और नित्य है, जबकि तीर्थंकर विशेष की शासन की अपेक्षा से वे सृष्ट एवं अनित्य हैं।

वैदिक साहित्य और जैनागमों में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि वेदों के अध्ययन में सदैव ही शब्द-रूप को महत्त्व दिया गया और यह माना गया कि शब्द-रूप में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। चाहे उसका अर्थ स्पष्ट हो या न हो। इसके विपरीत जैन परम्परा में तीर्थंकरों को अर्थ का प्रवक्ता माना गया और इसलिए इस बात पर बल दिया गया कि चाहे आगमों में शब्द-रूप में भिन्नता हो जाय किन्तु उनमें अर्थ-भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण था कि शब्द-रूप की इस उपेक्षा के कारण परवर्तीकाल में आगमों में अनेक भाषिक परिवर्तन हुए और आगम पाठों की एकरूपता नहीं रह सकी। यद्यपि विभिन्न संगीतियों के माध्यम से एकरूपता बनाने का प्रयास हुआ लेकिन उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। यद्यपि यह शब्द-रूप परिवर्तन भी आगे निर्बाध रूप से न चले इसलिए एक ओर उन्हें लिपिबद्ध करने का प्रयास हुआ तो दूसरी ओर आगमों में पद, अक्षर, अनुस्वार आदि में परिवर्तन करना भी महापाप बताया गया। इस प्रकार यद्यपि आगमों के भाषागत स्वरूप को स्थिरता तो प्रदान की गयी, फिर भी शब्द की अपेक्षा अर्थ पर अधिक बल दिये जाने के कारण जैनागमों का स्वरूप पूर्णतया अपरिवर्तित नहीं रह सका, जबकि वेद शब्द-रूप में अपरिवर्तित रहे। आज भी उनमें ऐसी अनेक ऋचायें हैं-- जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता है (अनर्थकारि मन्त्राः)। इस प्रकार वेद शब्द-प्रधान है जबकि जैन आगम अर्थ-प्रधान है।

वेद और जैनागमों में तीसरी भिन्नता उनकी विषय-वस्तु की अपेक्षा से भी है। वेदों में भौतिक उपलब्धियों हेतु प्राकृतिक शक्तियों के प्रति प्रार्थनाएँ ही प्रधान रूप से देखी जाती हैं, साथ ही कुछ खगोल-भूगोल सम्बन्धी विवरण और कथाएँ भी हैं। जबकि जैन अर्धमागधी आगम साहित्य में आध्यात्मिक एवं वैराग्यपरक उपदेशों के द्वारा मन, इन्द्रिय और वासनाओं पर विजय पाने के निर्देश दिये गये हैं। इसके साथ-साथ उसमें मुनि एवं गृहस्थ के आचार सम्बन्धी विधि-निषेध प्रमुखता से वर्णित हैं तथा तप-साधना और कर्म-फल विषयक कुछ कथायें भी हैं। खगोल-भूगोल सम्बन्धी चर्चा भी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों में है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है उसका प्रारम्भिक रूप ही अर्धमागधी आगमों में उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य में वेदों के पश्चात् क्रमशः ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों का क्रम आता है। इनमें ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्यतः यज्ञ-याग सम्बन्धी कर्मकाण्डों का विवरण प्रस्तुत करते हैं। अतः उनकी शैली और विषय-वस्तु दोनों ही अर्धमागधी आगम साहित्य से भिन्न हैं। आरण्यकों के सम्बन्ध में मैं अभी तक सम्यक् अध्ययन नहीं कर पाया हूँ अतः उनसे अर्धमागधी

आगम साहित्य की तुलना कर पाना मेरे लिये सम्भव नहीं है। किन्तु आरण्यकों में वैराग्य, निवृत्ति एवं वानप्रस्थ जीवन के अनेक तथ्यों के उल्लेख होने से विशेष तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उनमें और जैन आगमों में समरूपता को खोजा जा सकता है।

जहाँ तक उपनिषदों का प्रश्न है उपनिषदों के अनेक अंश आचारांग, इसिभासियाई आदि प्राचीन अर्धशागधी आगम साहित्य में भी यथावत् उपलब्ध होते हैं। याज्ञवल्क्य, नारद, कपिल, असितदेवल, अरुण, उद्दालक, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों के उल्लेख एवं उपदेश इसिभासियाई, आचारांग, सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में उपलब्ध हैं। इसिभासियाई में याज्ञवल्क्य का उपदेश उसी रूप में वर्णित है, जैसा वह उपनिषदों में मिलता है। उत्तराध्ययन के अनेक आख्यान, उपदेश एवं कथाएँ मात्र नाम-भेद के साथ महाभारत में भी उपलब्ध हैं। प्रस्तुत प्रसंग में विस्तारभय से वह सब तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। इनके तुलनात्मक अध्ययन हेतु इच्छुक पाठकों को इसिभासियाई की मेरी भूमिका एवं जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन खण्ड 1 एवं 2 देखने की अनुशंसा करके इस चर्चा को यहीं विराम देता हूँ।

पालित्रिपिटक और जैनागम

पालित्रिपिटक और जैनागम अपने उद्भव स्रोत की अपेक्षा से समकालिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि पालित्रिपिटक के प्रवक्ता भगवान बुद्ध और जैनागमों के प्रवक्ता भगवान महावीर समकालिक ही हैं। इसलिए दोनों के प्रारम्भिक ग्रन्थों का रचनाकाल भी समसामयिक है। दूसरे जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा दोनों ही भारतीय संस्कृति की श्रमणधारा के अंग हैं अतः दोनों की मूलभूत जीवन-दृष्टि एक ही है। इस तथ्य की पुष्टि जैनागमों और पालित्रिपिटक के तुलनात्मक अध्ययन से हो जाती है। दोनों परम्पराओं में समान रूप से निवृत्तिपरक जीवन-दृष्टि को अपनाया गया है और सदाचार एवं नैतिकता की प्रस्थापना के प्रयत्न किये गये हैं, अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से भी दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में समानता है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक एवं कुछ प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ, सुत्तनिपात, धम्मपद आदि में मिल जाती हैं। किन्तु जहाँ तक दोनों के दर्शन एवं आचार नियमों का प्रश्न है, वहाँ स्पष्ट अन्तर भी देखा जाता है। क्योंकि जहाँ भगवान बुद्ध आचार के क्षेत्र में मध्यममार्गीय थे, वहाँ महावीर तप, त्याग और तितिक्षा पर अधिक बल दे रहे थे। इस प्रकार आचार के क्षेत्र में दोनों की दृष्टियाँ भिन्न थीं। यद्यपि विचार के क्षेत्र में महावीर और बुद्ध दोनों ही एकान्तवाद के समालोचक थे, किन्तु जहाँ बुद्ध ने एकान्तवादों को केवल नकारा, वहाँ महावीर ने उन एकान्तवादों में समन्वय किया। अतः दर्शन के क्षेत्र में बुद्ध की दृष्टि नकारात्मक रही है, जबकि महावीर की सकारात्मक। इस प्रकार दर्शन और आचार के क्षेत्र में दोनों में जो भिन्नता थी, वह उनके साहित्य में भी अभिव्यक्त हुई है। फिर भी सामान्य पाठक की अपेक्षा से दोनों परम्परा के ग्रन्थों में क्षणिकवाद, अनात्मवाद आदि दार्शनिक प्रस्थानों को छोड़कर एकता ही अधिक परिलक्षित होती है।

आगमों का महत्त्व एवं प्रामाणिकता

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ या शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि उस धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त और आचार व्यवस्था दोनों के लिए "शास्त्र" ही एक मात्र प्रमाण होता है। हिन्दूधर्म में वेद का, बौद्धधर्म में त्रिपिटक का, पारसीधर्म में अवेस्ता का, ईसाईधर्म में बाइबिल का और इस्लाम में कुरान का, जो स्थान है, वही स्थान जैनधर्म में आगम साहित्य का है। फिर भी आगम साहित्य को न तो वेद के समान अपौरुषेय माना गया है और न बाइबिल या कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का सन्देश ही, अपितु वह उन अर्हंतों व ऋषियों की वाणी का संकलन है, जिन्होंने अपनी तपस्या और साधना द्वारा सत्य का प्रकाश प्राप्त किया था। जैनों के लिए आगम जिनवाणी है, आप्तवचन है, उनके धर्म-दर्शन और साधना का आधार है। यद्यपि वर्तमान में जैनधर्म का दिग्म्बर सम्प्रदाय उपलब्ध अर्धमागधी आगमों को प्रमाणभूत नहीं मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में इन आगमों में कुछ ऐसा प्रक्षिप्त अंश है, जो उनकी मान्यताओं के विपरीत है। मेरी दृष्टि में चाहे वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हों या उनमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी हुआ हो, फिर भी वे जैनधर्म के प्रामाणिक दस्तावेज हैं। उनमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं। उनकी पूर्णतः अस्वीकृति का अर्थ अपनी प्रामाणिकता को ही नकारना है। श्वेताम्बर मान्य इन अर्धमागधी आगमों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये ई.पू. पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवीं शती अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष में जैन संघ के चढ़ाव-उतार की एक प्रामाणिक कहानी कह देते हैं।

अर्धमागधी आगमों का वर्गीकरण

वर्तमान जो आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन्हें निम्न रूप में वर्गीकृत किया जाता है--

11 अंग

1. आचार (आचारांग), 2. सूयगह (सूत्रकृतांग), 3. ठाण (स्थानांग), 4. सम्वाय (सम्वायांग), 5. वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति या भगवती), 6. नायाधम्मकहाओ (ज्ञात-धर्मकथा), 7. उवासगदसाओ (उपासकदशाः), 8. अंतगहदसाओ (अन्तकृदशाः), 9. अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरीपपातिकदशाः), 10. पण्हावाभरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि), 11. विवागसुयं (विपाकश्रुतम्), 12 दृष्टिवाद (दिट्ठिवाय), जो विच्छिन्न हुआ है।

12 उपांग

1. उववाइयं (औपपातिकं), 2. रायपसेणइजं (राजप्रसेनजित्कं) अथवा रायपसेणियं (राजप्रश्नीयं), 3. जीवाजीवाभिगम, 4. पण्णवणा (प्रज्ञापना), 5. सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), 6. जम्बुद्वीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), 7. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), 8-12. निरयावल्लियासुयकच्छं (निरयावल्लिकाश्रुतस्कन्ध), 8. निरयावल्लियाओ (निरयावल्लिकाः), 9. कप्पवटंसियाओ (कल्पावतंसिकाः), 10. पुफियाओ (पुष्पिकाः), 11. पुफ्फूलाओ (पुष्पचूलाः), 12. वण्हदसाओ (वृषिदशा)।

जहाँ तक उपर्युक्त अंग और उपांग ग्रन्थों का प्रश्न है। श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदाय इन्हे मान्य करते हैं। जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय इन्हीं ग्यारह अंगसूत्रों को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि वे अंगसूत्र वर्तमान में विलुप्त हो गये हैं। उपांगसूत्रों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों में एक रूपता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में बारह उपांगों की न तो कोई मान्यता रही और न वे वर्तमान में इन ग्रन्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यद्यपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, दीपसागरप्रज्ञप्ति आदि नामों से उनके यहाँ कुछ ग्रन्थ अवश्य पाये जाते हैं। साथ ही सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को भी उनके द्वारा दृष्टिवाद के परिकर्म विभाग के अन्तर्गत स्वीकार किया गया था।

4 मूलसूत्र

सामान्यतया (1) उत्तराध्ययन, (2) दशवैकालिक, (3) आवश्यक और (4) पिण्डनिर्युक्ति -- ये चार मूलसूत्र माने गये हैं। फिर भी मूलसूत्रों की संख्या और नामों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर सम्प्रदायों में एकरूपता नहीं है। जहाँ तक उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का प्रश्न है इन्हें सभी श्वेताम्बर सम्प्रदायों एवं आचार्यों ने एक मत से मूलसूत्र माना है। समयसुन्दर, भावप्रभसूरि तथा पाश्चात्य विद्वानों में प्रो. वेबर, प्रो. वूलहर, प्रो. सारपेन्टियर, प्रो. विन्टर्नित्ज, प्रो. शूब्रिग आदि ने एक स्वर से आवश्यक को मूलसूत्र माना है, किन्तु स्थानकवासी एवं तेरापन्थी सम्प्रदाय आवश्यक को मूलसूत्र के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। ये दोनों सम्प्रदाय आवश्यक एवं पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नन्दी और अनुयोगद्वार को मूलसूत्र मानते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में कुछ आचार्यों ने पिण्डनिर्युक्ति के साथ-साथ औघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र में माना है। इस प्रकार मूलसूत्रों के वर्गीकरण और उनके नामों में एक रूपता का अभाव है। दिगम्बर परम्परा में इन मूलसूत्रों में से दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक मान्य रहे हैं। तत्त्वार्थ की दिगम्बर टीकाओं में, धवला में तथा अंगपण्णत्ति में इनका उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि अंगपण्णत्ति में नन्दीसूत्र की भाँति ही आवश्यक के छह विभाग किये गये हैं। यापनीय परम्परा में भी न केवल आवश्यक, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक मान्य रहे हैं, अपितु यापनीय आचार्य अपराजित (नवीं शती) ने तो दशवैकालिक की टीका भी लिखी थी।

6 छेदसूत्र

छेदसूत्रों के अन्तर्गत वर्तमान में 1. आचारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध), 2. कल्प (कल्प), 3. व्यवहार (व्यवहार), 4. निशीठ (निशीथ), 5. महानिशीठ (महानिशीथ) और 6. जीयकल्प (जीतकल्प) ये छह ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें से महानिशीथ और जीतकल्प को श्वेताम्बरों की तेरापन्थी और स्थानकवासी सम्प्रदायें मान्य नहीं करती हैं। वे दोनों मात्र चार ही छेदसूत्र मानते हैं। जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय उपर्युक्त 6 छेदसूत्रों को मानता है। जहाँ तक दिगम्बर और यापनीय परम्परा का प्रश्न है उनमें अंगबाह्य ग्रन्थों में कल्प, व्यवहार और निशीथ का उल्लेख मिलता है। यापनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में न केवल इनका उल्लेख मिलता है, अपितु इनके अवतरण भी दिये गये हैं। आश्चर्य यह है कि वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में प्रचलित

मूलतः यापनीय परम्परा के प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थ "छेदपिण्डशास्त्र" में कल्प और व्यवहार के प्रमाण्य के साथ-साथ जीतकल्प का भी प्रमाण्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार दिगम्बर एवं यापनीय परम्पराओं में कल्प, व्यवहार, निशीथ और जीतकल्प की मान्यता रही है, यद्यपि वर्तमान में दिगम्बर आचार्य इन्हें मान्य नहीं करते हैं।

10 प्रकीर्णक

इसके अन्तर्गत निम्न दस ग्रन्थ माने जाते हैं --

1. घउसरण (चतुःशरण), 2. आउरपच्चाक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), 3. भक्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), 4. संथारय (संस्तारक), 5. तंदुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक), 6. चन्दवेद्यक (चन्द्रवेद्यक), 7. देवेन्द्रस्तव (देवेन्द्रस्तव), 8. गणिविज्जा (गणिविद्या), 9. महापच्चाक्खाण (महाप्रत्याख्यान) और 10 वीरस्तव (वीरस्तव)।

श्वेताम्बर सम्प्रदायों में स्थानकवासी और तेरापंथी इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करते हैं। यद्यपि मेरी दृष्टि में इनमें उनकी परम्परा के विरुद्ध ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे इन्हें अमान्य किया जाये। इनमें से 9 प्रकीर्णकों का उल्लेख तो नन्दीसूत्र में मिल जाता है। अतः इन्हें अमान्य करने का कोई औचित्य नहीं है। हमने इसकी विस्तृत चर्चा आगम संस्थान, उदयपुर से प्रकाशित महापच्चाक्खाण की भूमिका में की है। जहाँ तक दस प्रकीर्णकों के नाम आदि का प्रश्न है, श्वेताम्बर भूर्तिपूजक सम्प्रदाय के आचार्यों में भी किंचित मतभेद पाया जाता है। लगभग 9 नामों में तो एक रूपता है किन्तु भक्तपरिन्ना, मरणविधि और वीरस्तव ये तीन नाम ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न आचार्यों के वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न रूप से आये हैं। किसी ने भक्तपरिज्ञा को छोड़कर मरणविधि का उल्लेख किया है तो किसी ने उसके स्थान पर वीरस्तव का उल्लेख किया है। भुनि श्री पुण्यविजयजी ने पड़ण्यसुत्ताइं, प्रथम भाग की भूमिका में प्रकीर्णक नाम से अभिहित लगभग निम्न 22 ग्रन्थों का उल्लेख किया है इनमें से अधिकांश महावीर विद्यालय से पड़ण्यसुत्ताइं नाम से 2 भागों में प्रकाशित है। अंगविद्या का प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी की ओर से हुआ है। ये बाईस प्रकीर्णक निम्न हैं--

1. चतुःशरण, 2. आतुरप्रत्याख्यान, 3. भक्तपरिज्ञा, 4. संस्तारक, 5. तंदुलवैचारिक, 6. चन्द्रवेद्यक, 7. देवेन्द्रस्तव, 8. गणिविज्जा, 9. महाप्रत्याख्यान, 10. वीरस्तव, 11. ऋषिभाषित, 12. अजीवकल्प, 13. गच्छाचार, 14. मरणसमाधि, 15. तित्योगालिय, 16. आराधनाफत्ताक, 17. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, 18. ज्योतिष्करण्डक, 19. अंगविद्या, 20. सिद्धप्राभूत, 21. साराक्ली और 22. जीवविभक्ति।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं, यथा-- "आउरपच्चाक्खाण" के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से एक तो दसवीं शती के आचार्य वीरभद्र की कृति है।

इनमें से नन्दी और पाक्षिकसूत्र के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेद्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान ये सात नाम पाये जाते हैं

और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज के कुछ आचार्य जो 84 आगम मानते हैं, वे प्रकीर्णकों की संख्या 10 के स्थान पर 30 मानते हैं। इसमें पूर्वोक्त 22 नामों के अतिरिक्त निम्न 8 प्रकीर्णक और माने गये हैं -- पिण्डविभुद्धि, पर्यन्तआराधना, योनिप्राभृत, अंगचूलिया, वंगचूलिया, वृद्धचतुःशरण, जम्बूपयन्ना और कल्पसूत्र।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा एवं यापनीय परम्परा का प्रश्न है, वह स्पष्टतः इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करती हैं, फिर भी मूलाधार में आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान से अनेक गाथायें उसके संक्षिप्त प्रत्याख्यान और बृहत्-प्रत्याख्यान नामक अध्यायों में अवतरित की गई हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना में भी मरणविभक्ति, आराधनापताका आदि अनेक प्रकीर्णकों की गाथायें अवतरित हैं। ज्ञातव्य है कि इनमें अंग बाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है।

2 घूलिकासूत्र

घूलिकासूत्र के अन्तर्गत नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वय ये दो ग्रन्थ माने जाते हैं। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि स्थानकवासी परम्परा इन्हें घूलिकासूत्र न कहकर मूलसूत्र में वर्गीकृत करती है। फिर भी इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों को मान्य रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 6 छेद, 10 प्रकीर्णक, 2 घूलिकासूत्र-- ये 45 आगम श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में मान्य हैं। स्थानकवासी व तेरापन्थी इसमें से 10 प्रकीर्णक, जीतकल्प, महानिशीथ और पिण्डनिर्युक्ति -- इन 13 ग्रन्थों को कम करके 32 आगम मान्य करते हैं।

जो लोग चौरासी आगम मान्य करते हैं वे दस प्रकीर्णकों के स्थान पर पूर्वोक्त तीस प्रकीर्णक मानते हैं। इसके साथ दस निर्युक्तियों तथा यतिजीतकल्प, श्राद्धजतिकल्प, पाक्षिकसूत्र, क्षमापनासूत्र, वन्दित्तु, तिथि-प्रकरण, कवचप्रकरण, संशक्तनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य को भी आगमों में सम्मिलित करते हैं।

इस प्रकार वर्तमानकाल में अर्धभाग्यी आगम साहित्य को अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और घूलिकासूत्र के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्यप्त परवर्ती है। 12वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में इस प्रकार के वर्गीकरण का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वर्गीकरण की यह शैली सर्वप्रथम हमें आचार्य श्रीचन्द्र की "सुखबोधासमाचारी" (ई. सन्. 1112) में आंशिक रूप से उपलब्ध होती है। इसमें आगम साहित्य के अध्ययन का जो क्रम दिया गया है उससे केवल इतना ही प्रतिफलित होता है कि अंग, उपांग आदि की अवधारणा उस युग में बन चुकी थी। किन्तु वर्तमानकाल में जिस प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है, वैसा वर्गीकरण उस समय तक भी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हुआ था। उसमें मात्र अंग, उपांग, प्रकीर्णक इतने ही नाम मिलते हैं। विशेषता यह है कि उसमें नन्दीसूत्र व अनुयोगद्वयसूत्र को भी प्रकीर्णकों में सम्मिलित किया गया है। सुखबोधासमाचारी का यह

विवरण मुख्य रूप से तो आगम ग्रन्थों के अध्ययन-क्रम को ही सूचित करता है। इसमें मुनि जीवन सम्बन्धी आचार नियमों के प्रतिपादक आगम ग्रन्थों के अध्ययन को प्राथमिकता दी गयी है और सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन बौद्धिक परिपक्वता के पश्चात् हो ऐसी व्यवस्था की गई है।

इसी दृष्टि से एक अन्य विवरण जिनप्रभ ने अपने ग्रन्थ विधिमार्गप्रपा में दिया है। इसमें वर्तमान में उल्लिखित आगमों के नाम तो मिल जाते हैं, किन्तु कौन आगम किस वर्ग का है यह उल्लेख नहीं है। मात्र प्रत्येक वर्ग के आगमों के नाम एक साथ आने के कारण यह विश्वास किया जा सकता है कि उस समय तक चाहे अंग, उपांग आदि का वर्तमान वर्गीकरण पूर्णतः स्थिर न हुआ हो, किन्तु जैसा पद्मभूषण पं. दत्तसुखभाई का कथन है कि कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए, ऐसा एक क्रम बन गया था, क्योंकि उसमें अंग, उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक एवं चूलिकासूत्रों के नाम एक ही साथ मिलते हैं। विधिमार्गप्रपा में अंग, उपांग ग्रन्थों का पारस्परिक सम्बन्ध भी निश्चित किया गया था। मात्र यही नहीं एक मतान्तर का उल्लेख करते हुए उसमें यह भी बताया गया है कि कुछ आचार्य चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं सूर्यप्रज्ञप्ति को भगवती का उपांग मानते हैं। जिनप्रभ ने इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम वाचनाविधि के प्रारम्भ में अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद और मूल इन वर्गों का उल्लेख किया है। उन्होंने विधिमार्गप्रपा को ई. सन् 1306 में पूर्ण किया था, अतः यह माना जा सकता है कि इसके आस-पास ही आगमों का वर्तमान वर्गीकरण प्रचलन में आया होगा।

आगमों के वर्गीकरण की प्राचीन शैली

अर्धमागधी आगम साहित्य के वर्गीकरण की प्राचीन शैली इससे भिन्न रही है। इस प्राचीन शैली का सर्वप्रथम निर्देश हमें नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र (ईस्वी सन् पाँचवीं शती) में मिलता है। उस युग में आगमों को अंगप्रविष्ट व अंगबाह्य-- इन दो भागों में विभक्त किया जाता था। अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत आचारांग आदि 12 अंग ग्रन्थ आते थे। शेष ग्रन्थ अंगबाह्य कहे जाते थे। उसमें अंगबाह्यों की एक संज्ञा प्रकीर्णक भी थी। अंगप्रज्ञप्ति नामक दिगम्बर ग्रन्थ में भी अंगबाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है। अंगबाह्य को पुनः दो भागों में बाँटा जाता था-- 1. आवश्यक और 2. आवश्यक-व्यतिरिक्त। आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक आदि छः ग्रन्थ थे। ज्ञातव्य है कि वर्तमान वर्गीकरण में आवश्यक को एक ही ग्रन्थ माना जाता है और सामायिक आदि 6 आवश्यक अंगों को उसके एक-एक अध्याय रूप में माना जाता है, किन्तु प्राचीनकाल में इन्हें छह स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाता था। इसकी पुष्टि अंगपण्णत्ति आदि दिगम्बर ग्रन्थों से भी हो जाती है। उनमें भी सामायिक आदि को छह स्वतन्त्र ग्रन्थ माना गया है। यद्यपि उसमें कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान के स्थानपर वैनयिक एवं कृतिकर्म नाम मिलते हैं। आवश्यक-व्यतिरिक्त के भी दो भाग किये जाते थे-- 1. कालिक और 2. उत्कालिक। जिनका स्वाध्याय विकाल को छोड़कर किया जाता था, वे कालिक कहलाते थे, जबकि उत्कालिक ग्रन्थों के अध्ययन या स्वाध्याय में काल एवं विकाल का विचार नहीं किया जाता था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की आगमों के वर्गीकरण की यह सूची निम्नानुसार है--

श्रुत (आगम)

(क) अंगप्रविष्ट

1. आचाराग
2. सूत्रकृतांग
3. स्थानांग
4. समवायांग
5. व्याख्याप्रज्ञप्ति
6. ज्ञाताधर्मकथा
7. उपासकदशांग
8. अन्तकृत्तदशांग
9. अनुत्तरोपपातिकदशांग
10. प्रश्नव्याकरण
11. विपाकसूत्र
12. दृष्टिवाद

(ख) अंगबाह्य

(क) आवश्यक

1. सामायिक
2. चतुर्विंशतिस्तव
3. वन्दना
4. प्रतिक्रमण
5. कायोत्सर्ग
6. प्रत्याख्यान

(ख) आवश्यक व्यतिरिक्त

(क) कालिक

1. उत्तराध्ययन
2. दशाश्रुतस्कन्ध
3. कल्प
4. व्यवहार
5. निशीथ
6. महानिशीथ
7. ऋषिभाषित
8. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
9. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
10. चन्द्रप्रज्ञप्ति
11. क्षुल्लिकाविमान-
-प्रविभक्ति
12. महल्लिकाविमान-
-प्रविभक्ति
13. अंगचूलिका
14. वृगचूलिका
15. विवाहचूलिका
16. अरुणोपपात
17. वरुणोपपात
18. गरुडोपपात
19. धरुणोपपात

(ख) उत्कालिक

20. वैश्रमणोपपात
21. वेलन्धरोपपात
22. देवेन्द्रोपपात
23. उत्थानश्रुत
24. सभुत्थानश्रुत
25. नागपरिज्ञापनिका
26. निरयावलिका
27. कल्पिका
28. कल्पावर्तयिका
29. पुष्पिता
30. पुष्पचूलिका
31. वृष्णिदशा

1. दशवैकालिक
2. कल्पिकाकल्पिक
3. चुल्लकल्पश्रुत
4. महाकल्पश्रुत
5. औपपातिक
6. राजप्रश्नीय
7. जीवाभिगम
8. प्रज्ञापना
9. महाप्रज्ञापना
10. प्रमादाप्रमाद
11. नन्दी
12. अनुशोकाद्वार
13. देवेन्द्रस्तव
14. तन्दुलवैचारिक
15. चन्द्रवेद्यक

16. सूर्यप्रज्ञप्ति
17. पौरुषोमंडल
18. मण्डलप्रवेश
19. विद्याचरण विनिश्चय
20. गणिविद्या
21. ध्यानविभक्ति
22. मरणविभक्ति
23. आत्मविशोधि
24. वीतरागश्रुत
25. संलेखणाश्रुत
26. विहारकल्प
27. चरणविधि
28. आतुरप्रत्याख्यान
29. महाप्रत्याख्यान

इस प्रकार नन्दीसूत्र में १२ अंग, ६ आवश्यक, ३१ कालिक एवं २६ उत्कालिक सहित ७८ आगमों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि आज इनमें से अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

यापनीय और दिगम्बर परम्परा में आगमों का वर्गीकरण

यापनीय और दिगम्बर परम्पराओं में जैन आगम साहित्य के वर्गीकरण की जो शैली मान्य रही है, वह भी बहुत कुछ नन्दीसूत्र की शैली के ही अनुरूप है। उन्होंने उसे उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से ग्रहण किया है। उसमें आगमों को अंग और अंगबाह्य ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। इनमें अंगों की बारह संख्या का स्पष्ट उल्लेख तो मिलता है, किन्तु अंगबाह्य की संख्या का स्पष्ट निर्देश नहीं है। मात्र यह कहा गया है अंगबाह्य अनेक प्रकार के हैं। किन्तु अपने तत्त्वार्थभाष्य (1/20) में आचार्य उमास्वाति ने अंग-बाह्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम सामायिक आदि छह आवश्यकों का उल्लेख किया है उसके बाद दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, कल्प-व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित के नाम देकर अन्त में आदि शब्द से अन्य ग्रन्थों का ग्रहण किया है। किन्तु अंगबाह्य में स्पष्ट नाम तो उन्होंने केवल बारह ही दिये हैं। इसमें कल्प-व्यवहार का एकीकरण किया गया है। एक अन्य सूचना से यह भी ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थभाष्य में उपांग संज्ञा का निर्देश है। हो सकता है कि पहले 12 अंगों के समान यही 12 उपांग माने जाते हों। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दी आदि दिगम्बर आचार्यों ने अंगबाह्य में न केवल उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है, अपितु कालिक एवं उत्कालिक ऐसे वर्गों का भी नाम निर्देश (1/20) किया है। हरिवंशपुराण एवं धवलाटीका में आगमों का जो वर्गीकरण उपलब्ध होता है उसमें 12 अंगों एवं 14 अंगबाह्यों का उल्लेख है। उसमें भी अंगबाह्यों में सर्वप्रथम छह आवश्यकों का उल्लेख है, तत्पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार, कप्पाकप्पीय, महाकप्पीय, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निशीथ का उल्लेख है। इस प्रकार धवला में 12 अंग और 14 अंगबाह्यों की गणना की गयी। इसमें भी कल्प और व्यवहार को एक ही ग्रन्थ माना गया है। ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थभाष्य की अपेक्षा इसमें कप्पाकप्पीय (कल्पिकाकल्पिक), महाकप्पीय (महाकल्प), पुण्डरीक और महापुण्डरीक-- ये चार नाम अधिक हैं। किन्तु भाष्य में उल्लिखित दशा और ऋषिभाषित को छोड़ दिया गया है। इसमें जो चार नाम अधिक हैं-- उनमें कप्पाकप्पीय और महाकप्पीय का उल्लेख नन्दीसूत्र में भी है, मात्र पुण्डरीक और महापुण्डरीक ये दो नाम विशेष हैं।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य शुभघनद्र कृत अंगप्रज्ञप्ति (अंगपण्णत्ति) नामक एक ग्रन्थ मिलता है। यह ग्रन्थ धवलाटीका के पश्चात् का प्रतीत होता है। इसमें धवलाटीका में वर्णित 12 अंगप्रविष्ट व 14 अंगबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण दिया गया है। यद्यपि इसमें अंगबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण संक्षिप्त ही है। इस ग्रन्थ में और दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में अंग बाह्यों को प्रकीर्णक भी कहा गया है (3.10)। इसमें कहा गया है कि सामायिक प्रमुख 14 प्रकीर्णक अंगबाह्य है। इसमें दिये गये विषय-वस्तु के विवरण से लगता है

कि यह विवरण मात्र अनुश्रुति के आधार पर लिखा गया है, मूल ग्रन्थों को लेखक ने नहीं देखा है, इसमें भी पुण्डरीक और महापुण्डरीक का उल्लेख है। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में मुझे कहीं नहीं मिला। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के सूत्रकृतांग में एक अध्ययन का नाम पुण्डरीक अवश्य मिलता है। प्रकीर्णकों में एक सारावली प्रकीर्णक है। इसमें पुण्डरीक महातीय (शत्रुजय) की महत्ता का विस्तृत विवरण है। सम्भव है कि पुण्डरीक सारावली प्रकीर्णक का ही यह दूसरा नाम हो। फिर भी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना उचित नहीं होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम शती से लेकर दसवीं शती तक आगमों को नन्दीसूत्र की शैली में अंग और अंगबाह्य -- पुनः अंग बाह्यों को आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त ऐसे दो विभागों में बाँटा जाता था। आवश्यक-व्यतिरिक्त में भी कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग सर्वमान्य थे। लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शती के बाद से अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और वृत्तिकासूत्र यह वर्तमान वर्गीकरण अस्तित्व में आया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में सभी अंगबाह्य आगमों के लिए प्रकीर्णक (पड़णय) नाम भी प्रचलित रहा है।

अर्धमागधी आगम साहित्य की प्राचीनता एवं उनका रचनाकाल

भारत जैसे विशाल देश में अतिप्राचीनकाल से ही अनेक बोलियों का अस्तित्व रहा है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भारत में तीन प्राचीन भाषाएँ प्रचलित रही हैं -- संस्कृत, प्राकृत और पालि। इनमें संस्कृत के दो रूप पाये जाते हैं-- ह्यन्दस् और साहित्यिक संस्कृत। वेद ह्यन्दस् संस्कृत में है, जो पालि और प्राकृत के निकट है। उपनिषदों की भाषा ह्यन्दस् की अपेक्षा साहित्यिक संस्कृत के अधिक निकट है। प्राकृत भाषा में निबद्ध जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी आगम साहित्य प्राचीनतम है। यहाँ तक कि आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित तो अशोककालीन प्राकृत अभिलेखों से भी प्राचीन है। ये दोनों ग्रन्थ लगभग ई. पू. पाँचवीं-छठी शताब्दी की रचनाएँ हैं। आचारांग की सूत्रात्मक औपनिषदिक शैली उसे उपनिषदों का निकटवर्ती और स्वयं भगवान महावीर की वाणी सिद्ध करती है। भाव, भाषा और शैली तीनों के आधार पर यह सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य में प्राचीनतम है। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व सम्बन्धी इसके विवरण औपनिषदिक विवरणों के अनुरूप हैं। इसमें प्रतिपादित महावीर का जीवनवृत्त भी अनौकिकता और अतिशयता रहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवरण भी उसी व्यक्ति द्वारा कहा गया है, जिसने स्वयं उनकी जीवनचर्या को निकटता से देखा और जाना होगा। अर्धमागधी आगम साहित्य में ही सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्याय, आचारांगवृत्त और कल्पसूत्र में भी महावीर की जीवनचर्या का उल्लेख है, किन्तु वे भी अपेक्षाकृत रूप में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा परवर्ती हैं, क्योंकि उनमें क्रमशः अनौकिकता, अतिशयता और अतिरंजना का प्रवेश होता गया है। इसी प्रकार ऋषिभाषित की साम्प्रदायिक अभिनिवेश से रहित उदारदृष्टि तथा भाव और भाषागत अनेक तथ्य उसे आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राकृत एवं पालिसाहित्य में

प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। पालिसाहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात माना जाता है, किन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ऋषिभाषित, सुत्तनिपात से भी प्राचीन है। अर्धमागधी आगमों की प्रथम वाचना स्थूलिभद्र के समय अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शती में हुई थी, अतः इतना निश्चित है कि उस समय तक अर्धमागधी आगम साहित्य अस्तित्व में आ चुका था। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य के कुछ ग्रन्थों के रचनाकाल की उत्तर सीमा ई. पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी सिद्ध होती है, जो कि इस साहित्य की प्राचीनता को प्रमाणित करती है।

फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य न तो एक व्यक्ति की रचना है और न एक काल की। यह सत्य है कि इस साहित्य को अन्तिम रूप वीरनिर्वाण सम्वत् 980 में वल्लभी में सम्पन्न हुई वाचना में प्राप्त हुआ। किन्तु इस आधार पर हमारे कुछ विद्वान मित्र यह गलत निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दी की रचना है। यदि अर्धमागधी आगम ईसा की पाँचवी शती की रचना है, तो वल्लभी की इस अन्तिम वाचना के पूर्व भी वल्लभी, मथुरा, खण्डगिरि और पाटलीपुत्र में जो वाचनायें हुई थीं उनमें संकलित साहित्य कौन सा था ? उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वल्लभी में आगमों को संकलित, सुव्यवस्थित और सम्पादित करके लिपिबद्ध (पुस्तकारुद्ध) किया गया था, अतः यह किसी भी स्थिति में उनका रचना काल नहीं माना जा सकता है। संकलन और सम्पादन का अर्थ रचना नहीं है। पुनः आगमों में विषय-वस्तु, भाषा और शैली की जो विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है, वह स्पष्टतया इस तथ्य की प्रमाण है कि संकलन और सम्पादन के समय उनकी मौलिकता को यथावत रखने का प्रयत्न किया गया है, अन्यथा आज उनका प्राचीन स्वरूप समाप्त ही हो जाता और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा और शैली भी परिवर्तित हो जाती तथा उसके उपधानश्रुत नामक नवें अध्ययन में वर्णित महावीर का जीवनकृत अलौकिकता एवं अतिशयों से युक्त बन जाता। यद्यपि यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु में कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, किन्तु प्रथम तो ऐसे प्रक्षेप बहुत ही कम हैं और दूसरे उन्हें स्पष्ट रूप से पहचाना भी जा सकता है। अतः इस आधार पर सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य को परवर्ती मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी।

अर्धमागधी आगम साहित्य पर कभी-कभी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर भी उसकी प्राचीनता पर संदेह किया जाता है। किन्तु प्राचीन हस्ताप्रतों के आधार पर पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्राचीन हस्ताप्रतों में आज भी उनका "त" श्रुतिप्रधान अर्धमागधी स्वरूप सुरक्षित है। आचारांग के प्रकाशित संस्करणों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्तीकाल में उसमें कितने पाठान्तर हो गये हैं। इस साहित्य पर जो महाराष्ट्री प्रभाव आ गया है वह लिपिकारों और टीकाकारों की अपनी भाषा के प्रभाव के कारण है। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का "रामपुत्ते" पाठ घूर्णि में "समाउत्ते" और शीलांक की टीका में "रामपुत्ते" हो गया। अतः अर्धमागधी आगमों में, महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर उनकी प्राचीनता पर संदेह नहीं करना चाहिये। अपितु उन ग्रन्थों की विभिन्न प्रतों एवं नियुक्ति, भाष्य, घूर्णि और टीकाओं के आधार पर पाठों के प्राचीन स्वरूपों को

सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुतः अर्धमागधी आगम साहित्य में विभिन्न काल की सामग्री सुरक्षित है। इसकी उत्तर सीमा ई. पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी और निम्न सीमा ई. सन् की पाँचवीं शताब्दी है। वस्तुतः अर्धमागधी आगम साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का या उनके किसी अंश विशेष का काल निर्धारित करते समय उनमें उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री, दार्शनिक चिन्तन की स्पष्टता एवं गहनता तथा भाषा-शैली आदि सभी पक्षों पर प्रामाणिकता के साथ विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ही यह स्पष्ट बोध हो सकेगा कि अर्धमागधी आगम साहित्य का कौन सा ग्रन्थ अथवा उसका कौन सा अंश विशेष किस काल की रचना है।

अर्धमागधी आगमों की विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में हमें स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र, नन्दीचूर्णा एवं तत्त्वार्थभाष्य में तथा दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ की टीकाओं के साथ-साथ ध्वला और जयध्वला में मिलते हैं। तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर परम्परा की टीकाओं और ध्वलादि में उनकी विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश मात्र अनुश्रुतिपरक है, वे ग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन पर आधारित नहीं हैं। उनमें दिया गया विवरण तत्त्वार्थभाष्य एवं परम्परा से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग, समवायांग, नन्दी आदि अर्धमागधी आगमों और उनकी व्याख्याओं एवं टीकाओं में उनकी विषय-वस्तु का जो विवरण है वह उन ग्रन्थों के अवलोकन पर आधारित है क्योंकि प्रथम तो इस परम्परा में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा आज तक जीवित चली आ रही है। दूसरे आगम ग्रन्थों की विषय-वस्तु में कालक्रम में क्या परिवर्तन हुआ है, इसकी सूचना श्वेताम्बर परम्परा के उपर्युक्त आगम ग्रन्थों से ही प्राप्त हो जाती है। इनके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस काल में किस आगम ग्रन्थ में कौन सी सामग्री जुड़ी और अलग हुई है। आचारंग में आचारचूला और निशीथ के जुड़ने और पुनः निशीथ के अलग होने की घटना, समवायांग और स्थानांग में समय-समय पर हुए प्रक्षेप, ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय वर्ग में जुड़े हुए अध्याय, प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु में हुआ सम्पूर्ण परिवर्तन, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरौपपातिक एवं विपाक के अध्ययनों में हुए आंशिक परिवर्तन-- इन सबकी प्रामाणिक जानकारी हमें उन विवरणों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करने से मिल जाती है। इनमें प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का परिवर्तन ही ऐसा है, जिसके वर्तमान स्वरूप की सूचना केवल नन्दीचूर्णि (ईस्वी सन् सातवीं शती) में मिलती है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण लगभग ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी में अस्तित्व में आया है। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य लगभग एक सहस्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में किस प्रकार निर्मित, परिवर्धित, परिवर्तित एवं सम्पादित होता रहा है इसकी सूचना भी स्वयं अर्धमागधी आगम साहित्य और उसकी टीकाओं से मिल जाती है।

वस्तुतः अर्धमागधी आगम विशेष या उसके अंश विशेष के रचनाकाल का निर्धारण एक जटिल समस्या है, इस सम्बन्ध में विषय-वस्तु सम्बन्धी विवरण, विचारों का विकासक्रम, भाषा-शैली आदि अनेक दृष्टियों से निर्णय करना होता है। उदाहरण के रूप में स्थानांग में सात

निह्नवों और नौ गणों का उल्लेख मिलता है जो कि वीरनिर्वाण सं. 584 तक अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु उसमें बोटिकों एवं उन परवर्ती गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख नहीं है, जो वीरनिर्वाण सं. 609 अथवा उसके बाद अस्तित्व में आये, अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से स्थानांग के रचनाकाल की अन्तिम सीमा वीरनिर्वाण सम्वत् 609 के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध या द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होती है। इसी प्रकार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषय-वस्तु एवं भाषा-शैली आचारांग के रचनाकाल को अर्धमागधी आगम साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध करती है। अर्धमागधी आगम के काल-निर्धारण में इन सभी पक्षों पर विचार अपेक्षित है।

इस प्रकार न तो हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों की यह दृष्टि समुचित है कि अर्धमागधी आगम देवद्विगणि की वाचना के समय अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी में अस्तित्व में आये और न कुछ श्वेताम्बर आचार्यों का यह कहना ही समुचित है कि सभी अंग आगम अपने वर्तमान स्वरूप में गणधरों की रचना है और उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्धन, प्रक्षेप या विलोप नहीं हुआ है। किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अर्धमागधी आगम साहित्य शौरसेनी आगम साहित्य से प्राचीन है। शौरसेनी आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुडसुत्त भी ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी से प्राचीन नहीं है। उसके पश्चात् षट्छण्डागम, मूलाचार, भगवतीआराधना, तिलोयपण्णत्ति, पिण्डछेदशास्त्र, आवश्यक (प्रतिक्रमणसूत्र) आदि का क्रम आता है, किन्तु पिण्डछेदशास्त्र और आवश्यक (प्रतिक्रमण) के अतिरिक्त इन सभी ग्रन्थों में गुणस्थान सिद्धान्त आदि की उपस्थिति से यह फलित होता है कि ये सभी ग्रन्थ पाँचवीं शती के पश्चात् के हैं। दिगम्बर आवश्यक (प्रतिक्रमण) एवं पिण्डछेदशास्त्र का आधार भी क्रमशः श्वेताम्बर मान्य आवश्यक और कल्प-व्यवहार, निशीथ आदि छेदसूत्र ही रहे हैं। उनके प्रतिक्रमण सूत्र में भी वर्तमान सूत्रकृतांग के तेईस एवं ज्ञाताधर्मकथा के उन्नीस अध्ययनों का विवरण है तथा पिण्डछेदशास्त्र में जीतकल्प के आधार पर प्रायश्चित्त देने का निर्देश है। ये यही सिद्ध करते हैं कि प्राकृत आगम साहित्य में अर्धमागधी आगम ही प्राचीनतम है, चाहे उनकी अन्तिम वाचना पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई. सन् 453) में ही सम्पन्न क्यों न हुई हो ?

इस प्रकार जहाँ तक आगमों के रचनाकाल का प्रश्न है उसे ई. पू. पाँचवीं शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में व्यापक माना जा सकता है क्योंकि उपलब्ध आगमों में सभी एक काल की रचना नहीं है। आगमों के सन्दर्भ में और विशेष रूप से अंग आगमों के सम्बन्ध में परम्परागत मान्यता तो यही है कि वे गणधरों द्वारा रचित होने के कारण ई. पू. पाँचवीं शताब्दी की रचना है। किन्तु दूसरी ओर कुछ विद्वान उन्हे कल्पनी में संकलित एवं सम्पादित किये जाने के कारण ईसा की पाँचवीं शती की रचना मान लेते हैं। मेरी दृष्टि में वे दोनों ही मत समीचीन नहीं हैं। देवर्धि के संकलन, सम्पादन एवं ताडपत्रों पर लेखन काल को उनका रचना काल नहीं माना जा सकता। अंग आगम तो प्राचीन ही है। ईसा पूर्व चौथी शती में पाटलीपुत्र की वाचना में जिनद्वदश अंगों की वाचना हुई थी, वे निश्चित रूप से

उसके पूर्व ही बने होंगे। यह सत्य है कि आगमों में देवर्धि की वाचना के समय अथवा उसके बाद भी कुछ प्रक्षेप हुए हों, किन्तु उन प्रक्षेपों के आधार पर सभी अंग आगमों का रचनाकाल ई.सन् की पाँचवीं शताब्दी नहीं माना जा सकता। डॉ. हर्मन याकोबी ने यह निश्चित किया है कि आगमों का प्राचीन अंश ई.पू. चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर ई.पू. तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का है। न केवल अंग आगम अपितु दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार भी, जिन्हें आचार्य भद्रबाहु की रचना माना जाता है याकोबी और शुब्रिंग के अनुसार ई.पू. चतुर्थ शती के उत्तरार्द्ध से ई.पू. तीसरी शती के पूर्वार्द्ध में निर्मित हैं। पं. दलसुखभाई आदि की मान्यता है कि आगमों का रचनाकाल प्रत्येक ग्रन्थ की भाषा, छन्दयोजना, विषय-वस्तु और उपलब्ध आन्तरिक और बाह्य साध्यों के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अपनी भाषा-शैली, विषय-वस्तु, छन्दयोजना आदि की दृष्टि से महावीर की वाणी के सर्वाधिक निकट प्रतीत होता है। उसकी औपनिषदिक शैली भी यही बताती है कि वह एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसका काल किसी भी स्थिति में ई.पू. चतुर्थ शती के बाद का नहीं हो सकता। उसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रूप में जो "आयारचूला" जोड़ी गयी है, वह भी ई.पू. दूसरी या प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। सूत्रकृतांग भी एक प्राचीन आगम है उसकी भाषा, छन्दयोजना एवं उसमें विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के तथा ऋषियों के जो उल्लेख मिलते हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह भी ई.पू. चौथी-तीसरी शती से बाद का नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बाद विकसित दार्शनिक मान्यताओं का उसमें कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उसमें उपलब्ध वीरस्तुति में भी अतिरंजनाओं का प्रायः अभाव ही है। अंग आगमों में तीसरा क्रम स्थानांग का आता है। स्थानांग, बौद्ध आगम अंगुत्तरनिकाय की शैली का ग्रन्थ है। ग्रन्थ लेखन की यह शैली भी प्राचीन रही है। स्थानांग में नौ गणों और सात निह्नवों के उल्लेख को छोड़कर अन्य ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे उसे परवर्ती कहा जा सके। हो सकता है कि जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण ये उल्लेख उसमें अन्तिम वाचना के समय प्रक्षिप्त किये गये हों। उसमें जो दस दशाओं और उनमें प्रत्येक के अध्यायों के नामों का उल्लेख है, वह भी उन आगमों की प्राचीन विषय-वस्तु का निर्देश करता है। यदि वह कल्लभी के वाचनाकाल में निर्मित हुआ होता तो उसमें दस दशाओं की जो विषय-वस्तु वर्णित है वह भिन्न होती। अतः उसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। समवायांग, स्थानांग की अपेक्षा एक परवर्ती ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ में द्वादश अंगों का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही इसमें उत्तराध्ययन के 36, ऋषिभाषित के 44, सूत्रकृतांग के 23, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के 16, आचारांग के चूलिका सहित 25 अध्ययन, दशा, कल्प और व्यवहार के 26 अध्ययन आदि का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ इसमें निर्दिष्ट आगमों के स्वरूप के निर्धारित होने के पश्चात् ही बना होगा। पुनः इसमें चतुर्दश गुणस्थानों का जीवस्थान के रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह निश्चित है कि गुणस्थान का यह सिद्धान्त उमास्वाति के पश्चात् अर्थात् ईसा की चतुर्थ शती के बाद ही अस्तित्व में आया है। यदि इसमें जीवठाण के रूप में चौदह गुणस्थानों के उल्लेख को बाद में प्रक्षिप्त भी मान लिया जाय तो भी अपनी भाषा-शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की

3-4 शती से पहले का नहीं है। हो सकता है उसके कुछ अंश प्राचीन हों, लेकिन आज उन्हें खोज पाना अति कठिन कार्य है। जहाँ तक भगवतीसूत्र का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार इसके अनेक स्तर हैं। इसमें कुछ स्तर अवश्य ही ई. पू. के हैं, किन्तु समवायांग की भाँति भगवती में भी पर्याप्त प्रक्षेप हुआ है। भगवतीसूत्र में अनेक स्थलों पर जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, अनुयांगद्वार, नन्दी आदि परवर्ती अंगों का निर्देश हुआ है। इनके उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि इसके सम्पादन के समय इसमें ये और इसी प्रकार की अन्य सूचनायें दे दी गयी हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वल्लभी वाचना में इसमें पर्याप्त रूप से परिवर्धन और संशोधन अवश्य हुआ है, फिर भी इसके कुछ शतकों की प्राचीनता निर्विवाद है। कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान इसमें प्राचीन एवं परवर्ती स्तरों के पृथक्करण का कार्य कर रहे हैं। उनके निष्कर्ष प्राप्त होने पर ही इसका रचनाकाल निश्चित किया जा सकता है।

उपासकदशा आगम साहित्य में श्रावकाचार का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रन्थ है। स्थानांगसूत्र में उल्लिखित इसके दस अध्ययनों और उनकी विषय-वस्तु में किसी प्रकार के परिवर्तन होने के संकेत नहीं मिलते हैं। अतः मैं समझता हूँ कि यह ग्रन्थ भी अपने वर्तमान स्वरूप में ई. पू. की ही रचना है और इसके किसी भी अध्ययन का विलोप नहीं हुआ है। श्रावकव्रतों के अणुव्रत और शिक्षाव्रत के रूप में वर्गीकृत करने के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्टतः इसका अनुसरण देखा जाता है अतः यह तत्त्वार्थ से अर्थात् ईसा की तीसरी शती से परवर्ती नहीं हो सकता है। ज्ञातव्य है कि अनुत्तरौपपातिक में उपलब्ध वर्गीकरण परवर्ती है, क्योंकि उसमें गुणव्रत की अवधारणा आ गयी है।

अग आगम साहित्य में अन्तकृद्दशा की विषय-वस्तु का उल्लेख हमें स्थानांगसूत्र में मिलता है। उसमें इसके निम्न दस अध्याय उल्लिखित हैं-- नमि, मातंग, सोमिल, रामपुत्त, सुदर्शन, जमानि, भगान्ति, किंकिम्, पल्लन्तेतिय, फाल अम्बडपुत्र। इनमें से सुदर्शन सम्बन्धी कुछ अंश को छोड़कर वर्तमान अन्तकृद्दशासूत्र में ये कोई भी अध्ययन नहीं मिलते हैं। किन्तु समवायांग और नन्दीसूत्र में क्रमशः इसके सात और आठ वर्गों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा का प्राचीन अंश विलुप्त हो गया है। यद्यपि समवायांग और नन्दी में क्रमशः इसके सात एवं आठ वर्गों का उल्लेख होने से इतना तय है कि वर्तमान अन्तकृद्दशा समवायांग और नन्दी की रचना के समय अस्तित्व में आ गया था। अतः इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की चौथी-पाँचवीं शती का है। उसके प्राचीन दस अध्यायों के जो उल्लेख हमें स्थानांग में मिलते हैं उन्हीं दस अध्ययनों के उल्लेख दिगम्बर एवं यापनीय परम्परा के ग्रन्थों में यथा अकलक के राजवार्तिक, धवला, अंगप्रज्ञापि आदि में भी मिलते हैं। इससे यह फलित होता है कि इस अग आगम के प्राचीन स्वरूप के विलुप्त हो जाने के पश्चात् भी माथुरी वाचना की अनुश्रुति से स्थानांग में उल्लिखित इसके दस अध्यायों की चर्चा होती रही है। हो सकता है कि इसकी माथुरी वाचना में ये दस अध्ययन रहे होंगे।

बहुत कुछ यही स्थिति अनुत्तरौपपातिकदशा की है। स्थानांगसूत्र की सूचना के अनुसार इसमें निम्न दस अध्ययन कहे गये हैं-- 1. ऋषिदास, 2. धन्य, 3. सुनक्षत्र, 4. कार्तिक,

5. संस्थान, 6. शालिभद्र, 7. आनन्द, 8. तेतली, 9. दशार्णभद्र, 10. अतिमुक्त। उपलब्ध अनुत्तरौपपातिकदशा में तीन वर्ग हैं उसमें द्वितीय वर्ग में ऋषिदास, धन्य और सुनक्षत्र ऐसे तीन अध्ययन मिलते हैं इनमें भी धन्य का अध्ययन ही विस्तृत है। सुनक्षत्र और ऋषिदास के विवरण अत्यन्त संक्षेप में ही हैं। स्थानांग में उल्लिखित शेष सात अध्याय वर्तमान अनुत्तरौपपातिकसूत्र में उपलब्ध नहीं होते। इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ वल्लभी वाचना के समय ही अपने वर्तमान स्वरूप में आया होगा।

जहाँ तक प्रश्नव्याकरणदशा का प्रश्न है इतना निश्चित है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु न केवल स्थानांग में उल्लिखित उसकी विषय-वस्तु से भिन्न है, अपितु नन्दी और समवायांग की उल्लिखित विषय-वस्तु से भी भिन्न है। प्रश्नव्याकरण की वर्तमान आस्रव और संवर द्वार वाली विषय-वस्तु का सर्वप्रथम निर्देश नन्दीचूर्ण में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरणसूत्र नन्दी के पश्चात् ई.सन्. की पाँचवीं-छठवीं शती के मध्य ही कर्मी निर्मित हुआ है। इतना तो निश्चित है कि नन्दी के रचयिता देववाचक के सामने यह ग्रन्थ अपने वर्तमान स्वरूप में नहीं था। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा और अनुत्तरौपपातिकदशा में जो परिवर्तन हुए थे, वे नन्दीसूत्रकार के पूर्व हो चुके थे क्योंकि वे उनके इस परिवर्तित स्वरूप का विवरण देते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में की है जो "जैन आगम साहित्य", सम्पादक डॉ. के.आर. चन्द्रा, अहमदाबाद, में प्रकाशित है।

इसी प्रकार जब हम उपांग साहित्य की ओर आते हैं तो उसमें रायपसेणियसुत्त में राजा पसेणीय द्वारा आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठाये गये हैं उनका विवरण हमें पालित्रिपिटक में भी उपलब्ध होता है। इससे यह फलित होता है कि औपपातिक का यह अंश कम से कम पालित्रिपिटक जितना प्राचीन तो है ही। जीवाजीवाभिगम के रचनाकाल का निश्चित रूप से बता पाना तो कठिन है, किन्तु इसकी विषय-वस्तु के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह ग्रन्थ ई.पू. की रचना होनी चाहिये। उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र को तो स्पष्टतः आर्य श्याम की रचना माना जाता है। आर्य श्याम का आचार्यकाल वी.नि.सं. 335-376 के मध्य माना जाता है। अतः इसका रचनाकाल ई.पू. द्वितीय शताब्दी के लगभग निश्चित होता है।

इसी प्रकार उपांग वर्ग के अन्तर्गत वर्णित चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति -- ये तीन प्रज्ञप्तियाँ भी प्राचीन ही हैं। वर्तमान में चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में कोई भेद नहीं दिखाई देता है। किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति में ज्यातिष सम्बन्धी जो चर्चा है वह वेदांग ज्यातिष के समान है, इससे इसकी प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। यह ग्रन्थ किसी भी स्थिति में ई.पू. प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। इन तीनों प्रज्ञप्तियों को दिगम्बर परम्परा में भी दृष्टिवाद के एक अंश -- परिकर्म के अन्तर्गत माना है। अतः यह ग्रन्थ भी दृष्टिवाद के पूर्ण विच्छेद एवं सम्प्रदाय-भेद के पूर्व का ही होना चाहिये।

छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार को स्पष्टतः भद्रबाहु प्रथम की रचना माना

गाया है अतः इसका काल ई.पू. चतुर्थ-तृतीय शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता है। ये सभी ग्रन्थ अटेल परम्परा में भी मान्य रहे हैं इसी प्रकार निशीथ भी अपने मूल रूप में तो आचारांग की ही एक चूला रहा है, बाद में उसे पृथक् किया गया है। अतः इसकी प्राचीनता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। याकोबी, शूबिंग आदि पाश्चात्य विद्वानों ने एकमत से छेदसूत्रों की प्राचीनता स्वीकार की है। इस वर्ग में मात्र जीतकल्प ही ऐसा ग्रन्थ है जो निश्चित ही परवर्ती है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार यह आचार्य जिनभद्र की कृति है। ये जिनभद्र विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता हैं। इनका काल अनेक प्रमाणों से ई.सन् की सातवीं शती है। अतः जीतकल्प का भी काल वही होना चाहिये। मेरी दृष्टि में पं. दलसुखभाई की यह मान्यता निरापद नहीं है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में इन्द्रनन्दि के छेदपिण्डशास्त्र में जीतकल्प के अनुसार प्रायश्चित्त देने का विधान किया गया है, इससे फलित होता है कि यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सम्प्रदाय भेद से पूर्व की रचना होनी चाहिये। हो सकता है इसके कर्ता जिनभद्र विशेषावश्यक के कर्ता जिनभद्र से भिन्न हों और उनके पूर्ववर्ती भी हों। किन्तु इतना निश्चित है कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में जो आगमों की सूची मिलती है उसमें जीतकल्प का नाम नहीं है। अतः यह उसके बाद की ही रचना होगी। इसका काल भी ई. सन् की पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध होना चाहिये। इसकी दिगम्बर और यापनीय परम्परा में मान्यता तभी संभव हो सकती है जब यह स्पष्ट रूप से संघभेद के पूर्व निर्मित हुआ हो। स्पष्ट संघ-भेद पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में अस्तित्व में आया है। छेद वर्ग में महानिशीथ का उद्धार आचार्य हरिभद्र ने किया था, यह सुनिश्चित है। आचार्य हरिभद्र का काल ई.सन् की आठवीं शती माना जाता है। अतः यह ग्रन्थ उसके पूर्व ही निर्मित हुआ होगा। हरिभद्र इसके उद्धारक अवश्य हैं किन्तु रचयिता नहीं। मात्र इतना माना जा सकता है कि उन्होंने इसके त्रुटित भाग की रचना की हो। इस प्रकार इसका काल भी आठवीं शती से पूर्व का ही है।

मूलसूत्रों के वर्ग में दशवैकालिक को आर्य शय्यंभव की कृति माना जाता है। इनका काल महावीर के निर्वाण के 75 वर्ष बाद है। अतः यह ग्रन्थ ई.पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी की रचना है। उत्तराध्ययन यद्यपि एक संकलन है किन्तु इसकी प्राचीनता में कोई शंका नहीं है। इसकी भाषा-शैली तथा विषय-वस्तु के आधार पर विद्वानों ने इसे ई.पू. चौथी-तीसरी शती का ग्रन्थ माना है। मेरी दृष्टि में यह पूर्व प्रश्नव्याकरण का ही एक विभाग था। इसकी अनेक गाथायें तथा कथानक पालित्रिपिटक साहित्य तथा महाभारत आदि में यथावत् मिलते हैं। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन यापनीय और दिगम्बर परम्परा में मान्य रहे हैं अतः ये भी संघ भेद या सम्प्रदाय भेद के पूर्व की रचना है। अतः इनकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। आवश्यक श्रमणों दैनन्दिन क्रियाओं का ग्रन्थ था अतः इसके कुछ प्राचीन पाठ तो भगवान महावीर के सम्कालिक ही माने जा सकते हैं। चूँकि दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक के सामायिक आदि विभाग दिगम्बर और यापनीय परम्परा में भी मान्य रहे हैं, अतः इनकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

प्रकीर्णक साहित्य में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख नन्दीसूत्र में है अतः ये सभी नन्दीसूत्र से तो

प्राचीन हैं ही, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। पुनः आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि आदि प्रकीर्णकों की सैकड़ों गाथाएँ यापनीय ग्रन्थ मूलाचार और भगवतीआराधना में पायी जाती हैं, मूलाचार एवं भगवतीआराधना भी छठवीं शती से परवर्ती नहीं है। अतः इन नौ प्रकीर्णकों को तो ई.सन् की चौथी-पाँचवीं शती से परवर्ती नहीं माने जा सकता। यद्यपि वीरभद्र द्वारा रचित कुछ प्रकीर्णक नवीं-दसवीं शती की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार चूलिकासूत्रों के अन्तर्गत नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्रों में भी अनुयोगद्वार का कुछ विद्वानों ने आर्यरक्षित के समय का माना है। अतः वह ई.सन् की प्रथम शती का ग्रन्थ होना चाहिए। नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक देवर्धि से पूर्ववर्ती हैं अतः उनका काल भी पाँचवीं शताब्दी से परवर्ती नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपलब्ध आगमों में प्रक्षेपों को छोड़कर अधिकांश ग्रन्थ तो ई.पू. के हैं। यह तो एक सामान्य चर्चा हुई, अभी इन ग्रन्थों में से प्रत्येक के काल-निर्धारण के लिए स्वतन्त्र और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। आशा है जैन विद्वानों की भावी पीढ़ी इस दिशा में कार्य करेगी।

आगमों की वाचनाएँ

यह सत्य है कि वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों के अन्तिम स्वरूप का निर्धारण बल्लभमी वाचना में वि.नि. संवत् 980 या 993 में हुआ किन्तु उसके पूर्व भी आगमों की वाचनाएँ तो होती रही हैं। जो ऐतिहासिक साक्ष्य हमें उपलब्ध हैं उनके अनुसार अर्धमागधी आगमों की पाँच वाचनाएँ होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

प्रथम वाचना -- प्रथम वाचना महावीर के निर्वाण के 160 वर्ष पश्चात् हुई। परम्परागत मान्यता तो यह है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय भीषण अकाल के कारण कुछ मुनि काल-कवलित हो गये और कुछ समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों की ओर चले गये। अकाल की समाप्ति पर वे मुनिगण वापस लौटे तो उन्होंने यह पाया कि उनका आगम-ज्ञान अशतः विस्मृत एवं विश्रृंखलित हो गया है और कहीं-कहीं पाठभेद हो गया है। अतः उस युग के प्रमुख आचार्यों ने पाटलीपुत्र में एकत्रित होकर आगमज्ञान को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दृष्टिवाद और पूर्व साहित्य का कोई विशिष्ट ज्ञाता वहाँ उपस्थित नहीं था। अतः ग्यारह अंग तो व्यवस्थित किये गये हैं किन्तु दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्निहित साहित्य को व्यवस्थित नहीं किया जा सका, क्योंकि उसके विशिष्ट ज्ञाता भद्रबाहु उस समय नेपाल में थे। संघ की विशेष प्रार्थना पर उन्होंने स्थूलिभद्र आदि कुछ मुनियों को पूर्व साहित्य की वाचना देना स्वीकार किया। स्थूलिभद्र भी उनसे दस पूर्वा तक का ही अध्ययन अर्थ सहित कर सके और शेष चार पूर्वा का मात्र शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर पाये।

इस प्रकार पाटलीपुत्र की वाचना में द्वादश अंगों को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया किन्तु उनमें एकादश अंग ही सुव्यवस्थित किये जा सके। दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्भूत पूर्व साहित्य को पूर्णतः सुरक्षित नहीं किया जा सका और उसका क्रमशः विलोप होना प्रारम्भ हो गया। फलतः उसकी विषय-वस्तु को लेकर अंग बाह्य ग्रन्थ निर्मित किये जाने

लगे।

द्वितीय वाचना -- आगमों की द्वितीय वाचना ई.पू. द्वितीय शताब्दी में महावीर के निर्वाण के लगभग 300 वर्ष पश्चात् उड़ीसा के कुमारी पूर्ववत् पर सम्राट खारवेल के काल में हुई थी। इस वाचना के सन्दर्भ में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है -- मात्र यही ज्ञात होता है कि इसमें श्रुत के संरक्षण का प्रयत्न हुआ था। वस्तुतः उस युग में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा गुरु-शिष्य के माध्यम से मौखिक रूप से ही चलती थी। अतः देशकालगत प्रभावां तथा विस्मृति-दोष के कारण उनमें स्वाभाविक रूप से भिन्नता आ जाती थी। अतः वाचनाओं के माध्यम से उनके भाषायी स्वरूप तथा पाठभेद को सुव्यवस्थित किया जाता है। कालक्रम में जो र्थाविवर्गों के द्वारा नवीन ग्रन्थों की रचना होती थी, उस पर भी विचार करके उन्हें इन्हीं वाचनाओं में मान्यता प्रदान की जाती थी। इसी प्रकार परिस्थितिवश आचार-नियमों में एवं उनके आगमिक सन्दर्भों की व्याख्या में जो अन्तर आ जाता था, उसका निराकरण भी इन्हीं वाचनाओं में किया जाता था। खण्डगिरि पर हुई इस द्वितीय वाचना में ऐसे किन विवादों का समाधान खोजा गया था -- इसकी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

तृतीय वाचना

आगमों की तृतीय वाचना वि.नि. 827 अर्थात् ई.सन् की तीसरी शताब्दी में मथुरा में आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में हुई। इसलिए इसे माथुरी वाचना या स्कन्दिली वाचना के नाम से भी जाना जाता है। माथुरी वाचना के सन्दर्भ में दो प्रकार की मान्यताएँ नन्दीघूर्णि में हैं। प्रथम मान्यता के अनुसार सुकाल होने के पश्चात् आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में शेष रहे मुनियों की स्मृति के आधार पर कालिकसूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया। अन्य कुछ का मन्तव्य यह है कि इस काल में सूत्र नष्ट नहीं हुआ था किन्तु अनुयोगधर स्वर्गवासी हो गये थे। अतः एक मात्र जीवित स्कन्दिल ने अनुयोगों का पुनः प्रवर्तन किया।

चतुर्थ वाचना -- चतुर्थ वाचना तृतीय वाचना के समकालीन ही है। जिस समय उत्तर, पूर्व और मध्य क्षेत्र में विद्यरण करने वाला मुनि संघ मथुरा में एकत्रित हुआ, उसी समय दक्षिण-पश्चिम में विद्यरण करने वाला मुनि संघ वल्लभी (सौराष्ट्र) में आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में एकत्रित हुआ। इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।

आर्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना समकालिक हैं। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन के मध्य आर्य हिमवत का उल्लेख है। इससे यह फलित होता है कि आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन समकालिक ही रहे होंगे। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कन्दिल के सन्दर्भ में यह कहा गया कि उनका अनुयोग आज भी दक्षिणाह्न्य भारत क्षेत्र में प्रचलित है। इसका एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उनके द्वारा सम्पादित आगम दक्षिण भारत में प्रचलित थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के विभाजन के फलस्वरूप जिस यापनीय सम्प्रदाय का विकास हुआ था उसमें आर्य स्कन्दिल के द्वारा सम्पादित आगम ही मान्य किये जाते थे और इस यापनीय सम्प्रदाय का प्रभाव क्षेत्र मध्य और दक्षिण भारत था। आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने तो स्त्री-निर्वाण प्रकरण में

स्पष्ट रूप से मथुरागम का उल्लेख किया है। अतः यह स्पष्ट है कि यापनीय सम्प्रदाय जिन आगमों को मान्य करता था, वे माथुरी वाचना के आगम थे। मूलाचार, भगवतीआराधना आदि यापनीय आगमों में वर्तमान में श्वेताम्बर मान्य आचाराग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार संग्रहणीसूत्रों एवं निर्युक्तियों आदि की सैकड़ों गाथाएँ आज भी उपलब्ध हो रही हैं। इससे यही फलित होता है कि यापनीयों के पास माथुरी वाचना के आगम थे। हम यह भी पाते हैं कि यापनीय ग्रन्थों में जो आगमों की गाथाएँ मिलती हैं वे न तो अर्धभागधी में हैं, न महाराष्ट्री प्राकृत में, अपितु वे शौरसेनी में हैं। मात्र यही नहीं अपराजित की भगवतीआराधना की टीका में आचाराग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, निशीथ आदि से जो अनेक अवतरण दिये हैं वे सभी अर्धभागधी में न होकर शौरसेनी में हैं।

इससे यह फलित होता है कि स्कंदिल की अध्यक्षता वाली माथुरी वाचना में आगमों की अर्धभागधी भाषा पर शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दूसरे माथुरी वाचना के आगमों के जो भी पाठ भगवतीआराधना की टीका आदि में उपलब्ध होते हैं, उनमें वल्लभी वाचना के वर्तमान आगमों से पाठभेद भी देखा जाता है। साथ ही अचेलकत्व की समर्थक कुछ गाथाएँ और गद्यांश भी पाये जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनुयोगद्वारसूत्र, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्ति आदि की कुछ गाथाएँ क्वचित् पाठभेद के साथ मिलती हैं-- सम्भवतः उन्होंने ये गाथायें यापनीयों के माथुरी वाचना के आगमों से ही ली होंगी।

एक ही समय में आर्य स्कंदिल द्वारा मथुरा में और नागार्जुन द्वारा वल्लभी में वाचना किये जाने की एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि दोनों में किन्हीं बातों को लेकर मतभेद थे। सम्भव है कि इन मतभेदों में वस्त्र-पात्र आदि सम्बन्धी प्रश्न भी रहे हों। पं. कैलाशचन्द्रजी ने जैन साहित्य का इतिहास -- पूर्व पीठिका (पृ. 500) में माथुरी वाचना की समकालीन वल्लभी वाचना के प्रमुख के रूप में देवर्धिगणिका का उल्लेख किया है, यह उनकी भ्रान्ति है। वास्तविकता तो यह है कि माथुरी वाचना का नेतृत्व आर्य स्कंदिल और वल्लभी की प्रथम वाचना का नेतृत्व आर्य नागार्जुन कर रहे थे और ये दोनों समकालिक थे, यह बात हम नन्दीसूत्र के प्रमाण से पूर्व में ही कह चुके हैं। यह स्पष्ट है कि आर्य स्कंदिल और नागार्जुन की वाचना में मतभेद था।

पं. कैलाशचन्द्रजी ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वल्लभी वाचना नागार्जुन की थी तो देवर्धि ने वल्लभी में क्या किया ? साथ ही उन्होंने यह भी कल्पना कर ली कि वादिवेतालशास्त्रिसूरि वल्लभी की वाचना में नागार्जुनीयों का पक्ष उपस्थित करने वाले आचार्य थे। हमारा यह दुर्भाग्य है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बर साहित्य का समग्र एवं निष्पक्ष अध्ययन किये बिना मात्र यत्र-तत्र उद्धृत या अंशतः पठित अंशों के आधार पर अनेक भ्रान्तियौ खड़ी कर दीं। इसके प्रमाण के रूप में उनके द्वारा उद्धृत मूल गाथा में ऐसा कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है, कि शान्तिसूरि वल्लभी वाचना के समकालिक थे। यदि हम आगमिक व्याख्याओं को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि अनेक वर्षों तक नागार्जुनीय और देवर्धि की वाचनायें साथ-साथ चलती रहीं हैं, क्योंकि इनके पाठान्तरों का उल्लेख मूल ग्रन्थों में कम और टीकाओं में अधिक

हुआ है।

पंचम वाचना -- वी. नि. के 980 वर्ष पश्चात् ई. सन् की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध में आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लम्भी वाचना के लगभग 150 वर्ष पश्चात् देवर्दिगणिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः वल्लम्भी में एक वाचना हुई। इस वाचना में मुख्यतः आगमों को पुस्तकारुद्ध करने का कार्य किया गया। ऐसा लगता है कि इस वाचना में माथुरी और नागार्जुनीय दोनों वाचनाओं को समान्वित किया गया है और जहाँ मतभेद परिलक्षित हुआ वहाँ "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" ऐसा लिखकर नागार्जुनीय पाठ को भी सम्मिलित किया गया।

प्रत्येक वाचना के सन्दर्भ में प्रायः यह कहा जाता है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण श्रमणसंघ समुद्रतटीय प्रदेशों की ओर चला गया और वृद्ध मुनि, जो इस अकाल में लम्बी यात्रा न कर सके कालगत हो गये। सुकाल होने पर जब मुनिसंघ लौटकर आया तो उसने यह पाया कि इनके श्रुतज्ञान में विस्मृति और विसंगति आ गयी है। प्रत्येक वाचना से पूर्व अकाल की यह कहानी मुझे बुद्धिगम्य नहीं लगती है। मेरी दृष्टि में प्रथम वाचना में श्रमण संघ के विश्रुंखलित होने का प्रमुख कारण अकाल की अपेक्षा मगध राज्य में युद्ध से उत्पन्न अशांति और आराजकता ही थी क्योंकि उस समय नन्दों के अत्याचारों एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के आक्रमण के कारण मगध में अशांति थी। उसी के फलस्वरूप श्रमण संघ सुदूर समुद्रीतट की ओर या नेपाल आदि पर्वतीय क्षेत्र की ओर चला गया था। भद्रबाहु की नेपाल यात्रा का भी सम्भवतः यही कारण रहा होगा।

जो भी उपलब्ध साक्ष्य है उससे यह फलित होता है कि पाटलिपुत्र की वाचना के समय द्वादश अंगों को ही व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ था। उसमें एकादश अंग सुव्यवस्थित हुए और बारहवें दृष्टिवाद, जिसमें अन्य दर्शन एवं महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा का साहित्य समाहित था, इसका संकलन नहीं किया जा सका। इसी सन्दर्भ में स्थूलिभद्र के द्वारा भद्रबाहु के सान्निध्य में नेपाल जाकर चतुर्दश पूर्वी के अध्ययन की बात कही जाती है। किन्तु स्थूलिभद्र भी मात्र दस पूर्वी का ही ज्ञान अर्थ सहित ग्रहण कर सके, शेष चार पूर्वी का केवल शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर सके। इसका फलितार्थ यही है कि पाटलीपुत्र की वाचना में एकादश अंगों का ही संकलन और संपादन हुआ था। किसी भी चतुर्दश पूर्वविद् की उपस्थिति नहीं होने से दृष्टिवाद के संकलन एवं संपादन का कार्य नहीं किया जा सका।

उपांग साहित्य के अनेक ग्रन्थ जैसे प्रज्ञापना आदि, छेदसूत्रों में आचारदशा, कल्प, व्यवहार आदि तथा चूलिकासूत्रों में नन्दी, अनुयोगद्वार आदि -- ये सभी परवर्ती कृति होने से इस वाचना में सम्मिलित नहीं किये गये होंगे। यद्यपि आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ पाटलीपुत्र की वाचना के पूर्व के हैं किन्तु इस वाचना में इनका क्या किया गया, यह जानकारी प्राप्त नहीं है। हो सकता है कि सभी साधु-साधिवियों के लिये इनका स्वाध्याय आवश्यक होने के कारण इनके विस्मृत होने का प्रश्न ही न उठा हो।

पाटलीपुत्र वाचना के बाद उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) पर खारवेल के राज्य

काल में हुई थी। इस वाचना के सम्बन्ध में मात्र इतना ही ज्ञात है कि इसमें भी श्रुत को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया था। संभव है कि इस वाचना में ई.पू. प्रथम शती से पूर्व रचित ग्रन्थों के संकलन और सम्पादन का कोई प्रयत्न किया गया हो।

जहाँ तक माथुरी वाचना का प्रश्न है इतना तो निश्चित है कि उसमें ई. सन् की चौथी शती तक के रचित सभी ग्रन्थों के संकलन एवं सम्पादन का प्रयत्न किया गया होगा। इस वाचना के कार्य के सन्दर्भ में जो सूचना मिलती है, उसमें इस वाचना में कालिकसूत्रों को व्यवस्थित करने का निर्देश है। नन्दिसूत्र में कालिकसूत्र को अंग-बाह्य, आवश्यक व्यतिरिक्त श्रुतों का ही एक भाग बताया गया है। कालिकसूत्रों के अन्तर्गत उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, निशीथ तथा वर्तमान में उपांग के नाम से अभिहित अनेक ग्रन्थ आते हैं। हो सकता है कि अंग सूत्रों की जो पाटलीपुत्र की वाचना चली आ रही थी वह मथुरा में मान्य रही हो, किन्तु उपांगों में से कुछ को तथा कल्प आदि छेद सूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया हो। किन्तु यापनीय ग्रन्थों की टीकाओं में जो माथुरी वाचना के आगमों के उद्धरण मिलते हैं, उन पर जो शौरसेनी का प्रभाव दिखता है, उससे ऐसा लगता है कि माथुरी वाचना में न केवल कालिक सूत्रों का अपितु उस काल तक रचित सभी ग्रन्थों के संकलन का काम किया गया था। ज्ञातव्य है कि यह माथुरी वाचना अचेल्ता की पोषक यापनीय परम्परा में भी मान्य रही है। यापनीय ग्रन्थों की व्याख्याओं एवं टीकाओं में इस वाचना के आगमों के अवतरण तथा इन आगमों के प्रामाण्य के उल्लेख मिलते हैं। आर्य शाकटायन ने अपने स्त्री-निर्वाण प्रकरण एवं अपने व्याकरण की स्वोपज्ञटीका में न केवल मथुरा आगम का उल्लेख किया है, अपितु उनकी अनेक मान्यताओं का निर्देश भी किया है तथा अनेक अवतरण भी दिये हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना की अपराजित की टीका में भी आचारंग, उत्तराध्ययन, निशीथ आदि के अवतरण पाये जाते हैं, यह हम पूर्व में कह चुके हैं।

आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना वस्तुतः उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के संचेल-अंचेल दोनों पक्षों के लिये मान्य थी और उसमें दोनों ही पक्षों के सम्पोषक साक्ष्य उपस्थित थे। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि माथुरी वाचना उभय पक्षों को मान्य थी तो फिर उसी समय नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में वाचना करने की क्या आवश्यकता थी। मेरी मान्यता है कि अनेक प्रश्नों पर स्कंदिल और नागार्जुन में मतभेद रहा होगा। इसी कारण से नागार्जुन को स्वतन्त्र वाचना करने की आवश्यकता पड़ी।

इस समस्त धर्चा से पं. कैलाशचन्द्रजी के इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है कि वल्लभी की दूसरी वाचना में क्या किया गया? एक ओर मुनि श्री कल्याणविजयजी की मान्यता यह है कि वल्लभी में आगमों को मात्र पुस्तकारूढ किया गया तो दूसरी ओर पं. कैलाशचन्द्रजी यह मानते हैं कि वल्लभी में आगमों को नये सिरे से लिखा गया, किन्तु ये दोनों ही मत मुझे एकांगी प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि वल्लभी में न केवल आगमों को पुस्तकारूढ किया गया, अपितु उन्हें संकलित एवं सम्पादित भी किया गया किन्तु यह संकलन एवं सम्पादन निराधार नहीं था। न तो दिगम्बर परम्परा का यह कहना उचित है कि वल्लभी में श्वेताम्बरों ने अपनी

मान्यता के अनुरूप आगमों को नये सिरे से रच डाला और न यह कहना ही समुचित होगा कि वल्लभी में जो आगम संकलित किये गये वे अक्षुण्ण रूप से वैसे ही थे जैसे— पाटलीपुत्र आदि की पूर्व वाचनाओं में उन्हें संकलित किया गया था। यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु के साथ-साथ अनेक आगम ग्रन्थ भी कालक्रम में विलुप्त हुए हैं। वर्तमान आगमों का यदि सम्यक् प्रकार से विश्लेषण किया जाय तो इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। आज आचारांग का सातवाँ अध्यायन विलुप्त है। इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक व विपाकदशा के भी अनेक अध्याय आज अनुपलब्ध हैं। नन्दिसूत्र की सूची के अनेक आगम ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हमने आगमों के विच्छेद की चर्चा के प्रसंग में की है। ज्ञातव्य है कि देवर्धि की वल्लभी वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकारुद् किया गया है, अपितु उन्हें सम्पादित भी किया गया है। इस सम्पादन के कार्य में उन्होंने आगमों की अवशिष्ट उपलब्ध विषय-वस्तु को अपने ढंग से पुनः वर्गीकृत भी किया था और परम्परा या अनुश्रुति से प्राप्त आगमों के वे अंश जो उनके पूर्व की वाचनाओं में समाहित नहीं थे, उन्हें समाहित भी किया। उदाहरण के रूप में ज्ञाताधर्मकथा में सम्पूर्ण द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्ग और अध्ययन इसी वाचना में समाहित किये गये हैं, क्योंकि श्वेताम्बर, यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के प्रतिक्रमणसूत्र एवं अन्यत्र उसके उन्नीस अध्ययनों का ही उल्लेख मिलता है। प्राचीन ग्रन्थों में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों का कहीं कोई निर्देश नहीं है।

इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा और विपाकदशा के सन्दर्भ में स्थानांग में जो दस-दस अध्ययन होने की सूचना है उसके स्थान पर इनमें भी जो वर्गों की व्यवस्था की गई वह देवर्धि की ही देन है। उन्होंने इनके विलुप्त अध्यायों के स्थान पर अनुश्रुति से प्राप्त सामग्री जोड़कर इन ग्रन्थों को नये सिरे से व्यवस्थित किया था।

यह एक सुनिश्चित सत्य है कि आज प्रश्नव्याकरण की आस्रव-सँवर द्वार सम्बन्धी जो विषय-वस्तु उपलब्ध है वह किसके द्वारा संकलित व संपादित है वह निर्णय करना कठिन कार्य है किन्तु यदि हम यह मानते हैं कि नन्दीसूत्र के रचयिता देवर्धि न होकर देव वाचक हैं, जो देवर्धि से पूर्व के हैं तो यह कल्पना भी की जा सकती है कि देवर्धि ने आस्रव व संवर द्वार सम्बन्धी विषय-वस्तु को लेकर प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषय-वस्तु का जो विच्छेद हो गया था, उसकी पूर्ति की होगी। इस प्रकार ज्ञाताधर्म से लेकर विपाकसूत्र तक के छः अंग आगमों में जो आशिक या सम्पूर्ण परिवर्तन हुए हैं, वे देवर्धि के द्वारा ही किये हुए माने जा सकते हैं। यद्यपि यह परिवर्तन उन्होंने किसी पूर्व परम्परा या अनुश्रुति के आधार पर ही किया होगा यह विश्वास किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त देवर्धि ने एक यह महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया कि जहाँ अनेक आगमों में एक ही विषय-वस्तु का विस्तृत विवरण था वहाँ उन्होंने एक स्थल पर विस्तृत विवरण था रखकर अन्यत्र उस ग्रन्थ का निर्देश कर दिया। हम देखते हैं कि भगवती आदि कुछ प्राचीन स्तरों के आगमों में भी, उन्होंने प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार जैसे परवर्ती आगमों का निर्देश करके आगमों में विषय-वस्तु के पुनरावर्तन को कम किया। इसी प्रकार जब एक ही आगम में कोई विवरण बार-बार आ रहा था तो उस विवरण के प्रथम शब्द के बाद

“जाव” शब्द रखकर अन्तिम शब्द का उल्लेख कर उसे संक्षिप्त बना दिया। इसके साथ ही उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ जो यद्यपि परवर्तीकाल की थीं, उन्हें भी आगमों में दे दिया जैसे स्थानांगमूत्र में सात निह्नवों और सात गणों का उल्लेख। इस प्रकार वल्लभी की वाचना में न केवल आगमों का पुस्तकस्वरूप किया गया अपितु उनकी विषय-वस्तु को सुव्यवस्थित और संपादित भी किया गया। सम्भव है कि इस सन्दर्भ में प्रक्षेप और विलोपन भी हुआ होगा किन्तु यह सब भी अनुश्रुति या परम्परा के आधार पर ही किया गया था अन्यथा आगमों को मान्यता न मिलती।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वाचनाओं में केवल अनुश्रुति से प्राप्त आगमों को ही संकलित किया जाता था किन्तु मेरी दृष्टि में वाचनाओं में न केवल आगम पाठों को सम्पादित एवं संकलित किया जाता अपितु उनमें नवनिर्मित ग्रन्थों को मान्यता भी प्रदान की जाती और जो आचार और विचार सम्बन्धी मतभेद होते थे उन्हें समन्वित या निराकृत भी किया जाता था। इसके अतिरिक्त इन वाचनाओं में वाचना स्थलों की अपेक्षा से आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है।

उदाहरण के रूप में जो आगम पटना अथवा उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) में सुव्यवस्थित किये गये थे, उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही, किन्तु जब वे आगम मथुरा और वल्लभी में पुनः सम्पादित किये गये तो उनमें भाषिक परिवर्तन आ गये। माथुरी वाचना में जो आगमों का स्वरूप तय हुआ था, उस पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दुर्भाग्य से आज हमें माथुरी वाचना के आगम उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इन आगमों के जो उद्धृत अंश उत्तर भारत की अचेल धारा यापनीय संघ के ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में उद्धृत मिलते हैं, उनमें हम यह पाते हैं कि भावगत समानता के होते हुए भी शब्द-रूपों और भाषिक स्वरूप में भिन्नता है। उत्तराध्ययन, आचारांग, निशीथ, कल्प, व्यवहार आदि से जो अंश भगवतीआराधना की टीका में उद्धृत हैं वे अपने भाषिक स्वरूप और पाठभेद की अपेक्षा से वल्लभी के आगमों से किंचित् भिन्न हैं।

अतः इन वाचनाओं के कारण आगमों में न केवल भाषिक परिवर्तन हुए अपितु पाठान्तर भी अस्तित्व में आये हैं। वल्लभी की अन्तिम वाचना में वल्लभी की ही नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर तो लिये गये, किन्तु माथुरी वाचना के पाठान्तर समाहित नहीं हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वल्लभी की देवार्धि की वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम थे और यही कारण था कि उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर दिये हैं। किन्तु मेरा मन्तव्य इससे भिन्न है। मेरी दृष्टि में उनकी वाचना का आधार भी परम्परा से प्राप्त नागार्जुनीय वाचना के पूर्व के आगम रहे होंगे, किन्तु जहाँ उन्हें अपनी परम्परागत वाचना का नागार्जुनीय वाचना से मतभेद दिखायी दिया, वहाँ उन्होंने नागार्जुनीय वाचना का उल्लेख कर दिया, क्योंकि माथुरी वाचना स्पष्टतः शौरसेनी से प्रभावित थी, दूसरे उस वाचना के आगमों के जो भी अक्षरण आज मिलते हैं उनमें कुछ वर्तमान आगमों की वाचना से मेल नहीं खाते हैं। उनसे यही फलित होता है कि देवार्धि की वाचना का आधार स्कंदिल की वाचना तो नहीं रही है। तीसरे माथुरी

वाचना के जो अवतरण आज यापनीय ग्रन्थों में मिलते हैं, उनसे इतना तो फलित होता है कि माथुरी वाचना के आगमों में भी वस्त्र-पात्र सम्बन्धी एवं स्त्री की तद्भव भुक्ति के उल्लेख तो थे, किन्तु उनमें अचेतता को उत्सर्ग मार्ग माना गया था। यापनीय ग्रन्थों में उद्धृत, अचेतपक्ष के सम्बोधक कुछ अवतरण तो वर्तमान वल्लभी वाचना के आगमों यथा आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध आदि में मिलते हैं किन्तु कुछ अवतरण वर्तमान वाचना में नहीं मिलते हैं। अतः माथुरी वाचना के पाठान्तर वल्लभी की देवर्धि की वाचना में समाहित नहीं हुए हैं, इसकी पुष्टि होती है। मुझे ऐसा लगता है कि वल्लभी की देवर्धि की वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम न होकर उनकी अपनी ही गुरु-परम्परा से प्राप्त आगम रहे होंगे। मेरी दृष्टि में उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के ही पाठान्तर अपनी वाचना में समाहित किये -- क्योंकि दोनों में भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों ही दृष्टि से कम ही अन्तर था। माथुरी वाचना के आगम या तो उन्हें उपलब्ध ही नहीं थे अथवा भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों की अपेक्षा भिन्नता अधिक होने से उन्होंने उसे आधार न बनाया हो। फिर भी देवर्धि को परम्परा से प्राप्त जो आगम थे, उनका और माथुरी वाचना के आगमों का मूलस्रोत तो एक ही था। हो सकता है कि दोनों में कालक्रम में भाषा एवं विषय-वस्तु की अपेक्षा क्वचित् अन्तर आ गये हों। अतः यह दृष्टिकोण भी समुचित नहीं होगा कि देवर्धि की वल्लभी वाचना के आगम माथुरी वाचना के आगमों से नितान्त भिन्न थे।

यापनीयों के आगम

यापनीय संघ के आचार्य आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, निशीथ, व्यवहार, आवश्यक आदि आगमों को मान्य करते थे। इस प्रकार आगमों के विच्छेद होने की जो दिगम्बर मान्यता है, वह उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। यापनीय आचार्यों द्वारा निर्मित किसी भी ग्रन्थ में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि अंगादि-आगम विच्छिन्न हो गये हैं। वे आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, कल्प आदि को अपनी परम्परा के ग्रन्थों के रूप में उद्धरित करते थे। इस सम्बन्ध में आदरणीय पं. नाथूराम प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 91) का यह कथन द्रष्टव्य है-- "अक्सर ग्रन्थकार किसी मत का खण्डन करने के लिए उसी मत के ग्रन्थों का हवाला दिया करते हैं और अपने सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं। परन्तु इस टीका (अर्थात् भावती-आराधना की विजयोदया टीका) में ऐसा नहीं है, इसमें तो टीकाकार ने अपने ही आगमों का हवाला देकर अचेतता सिद्ध की है।"

आगमों के अस्तित्व को स्वीकार कर उनके अध्ययन और स्वाध्याय सम्बन्धी निर्देश भी यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं। मूलाचार (5/80-82) में चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का उल्लेख है-- 1. गणधर कथित, 2. प्रत्येकबुद्ध कथित, 3. श्रुतकेवलि कथित और 4. अभिन्न दशपूर्वी कथित।

इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि संयमी पुरुषों एवं स्त्रियों अर्थात् मुनियों एवं आर्थिकाओं के लिए अस्वाध्यायकाल में इनका स्वाध्याय करना वर्जित है किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका अस्वाध्यायकाल में पाठ किया जा सकता है, जैसे -- आराधना

(भगवतीआराधना या आराधनापताका), निर्युक्ति, मरणाविभक्ति, संग्रह (पंचसंग्रह या संग्रहणीसूत्र), स्तुति (देविदत्तु), प्रत्याख्यान (आउरपच्चकखाण एवं महापच्चकखाण), धर्मकथा (ज्ञाताधर्मकथा) तथा ऐसे ही अन्य ग्रन्थ।

यहाँ पर चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का जो उल्लेख हुआ है, उस पर थोड़ी विस्तृत चर्चा अपेक्षित है, क्योंकि मूलाचार की मूलगाथा में मात्र इन चार प्रकार के सूत्रों का उल्लेख हुआ है। उसमें इन ग्रन्थों का नाम निर्देश नहीं है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि न तो यापनीय परम्परा से सम्बद्ध थे और न उनके सम्मुख ये ग्रन्थ ही थे। अतः इस प्रसंग में उनकी प्रत्येक-बुद्धकथित की व्याख्या पूर्णतः भ्रान्त ही है। मात्र यही नहीं, अगली गाथा की टीका में उन्होंने "थुदि", "पच्चकखाण" एवं "धम्मकहा" को जिन ग्रन्थों से समीकृत किया है वह तो और भी अधिक धामक है। आश्चर्य है कि वे "थुदि" से देवागमरतोत्र और परमेष्ठिरतोत्र को समीकृत करते हैं, जबकि मूलाचार का मन्तव्य अन्य ही है। जहाँ तक गणधरकथित ग्रन्थों का प्रश्न है वहाँ लेखक का तात्पर्य आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अंग ग्रन्थों से है, प्रत्येकबुद्धकथित ग्रन्थों से तात्पर्य प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित आदि से है, क्योंकि ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित माने जाते हैं। ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी समवायांग, उत्तराध्ययन निर्युक्ति आदि में है। श्रुतकेवलिकथित ग्रन्थों से तात्पर्य आचार्य शय्यम्भवरचित दशवैकालिक, आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) रचित बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदसा), व्यवहार आदि से है तथा अभिन्न दशपूर्विकथित ग्रन्थों से उनका तात्पर्य कम्मपयडी आदि "पूर्व" साहित्य के ग्रन्थों से है। यहाँ स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि यदि यापनीय परम्परा में ये ग्रन्थ विच्छिन्न माने जाते, तो फिर इनके स्वाध्याय का निर्देश लगभग ईसा की छठीं शताब्दी के ग्रन्थ मूलाचार में कैसे हो पाता। दिगम्बर परम्परा के अनुसार तो वीरनिर्वाण के 683 वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा की दूसरी शती में आचारांग धारियों की परम्परा भी समाप्त हो गई थी फिर वीरनिर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् भी आचारांग आदि के स्वाध्याय करने का निर्देश देने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। ज्ञातव्य है कि मूलाचार की यही गाथा कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड में भी मिलती है, किन्तु कुन्दकुन्द आगमों के उपर्युक्त प्रकारों का उल्लेख करने के पश्चात् उनकी स्वाध्याय विधि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते हैं। जबकि मूलाचार स्पष्ट रूप से उनके स्वाध्याय का निर्देश करता है। मात्र यही नहीं मूलाचार में आगमों के अध्ययन की उपधान विधि अर्थात् तप पूर्वक आगमों के अध्ययन करने की विधि का भी उल्लेख है। आगमों के अध्ययन की यह उपधान विधि श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित है। विधिमार्गप्रपा (पृ. 49-51) में इसका विस्तृत उल्लेख है। इससे यह भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि मूलाचार आगमों को विच्छिन्न नहीं मानता था। यापनीय परम्परा में ये अंग आगम और अंगबाह्य आगम प्रचलन में थे, इसका एक प्रमाण यह भी है कि नवीं शताब्दी में यापनीय आचार्य अपराजित भगवतीआराधना की टीका में न केवल इन आगमों से अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, अपितु स्वयं दशवैकालिक पर टीका भी लिख रहे हैं। मात्र यही नहीं, यापनीय पुरुषण के अक्सर पर कल्पसूत्र का वाचन भी करते थे, ऐसा निर्देश स्वयं दिगम्बराचार्य कर रहे हैं।

क्या यापनीय आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से भिन्न थे ?

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यापनीयों के ये आगम कौन से थे ? क्या वे इन नामों से उपलब्ध श्वेताम्बर परम्परा के आगमों से भिन्न थे या यही थे ? हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों ने यह कहने का अतिसाहस भी किया है कि ये आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से सर्वथा भिन्न थे। प. कैलाशचन्द्रजी (जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ. 525) ने ऐसा ही अनुमान किया है, वे लिखते हैं "जैन परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर के समान एक यापनीय संघ भी था। यह संघ यद्यपि नग्नता का पक्षधर था, तथापि श्वेताम्बरीय आगमों को मानता था। इस संघ के आचार्य अपराजितसूरि की संस्कृत टीका भगवतीआराधना नामक प्राचीन ग्रन्थ पर है। जो मुद्रित भी हो चुकी है। उसमें नग्नता के समर्थन में अपराजितसूरि ने आगम ग्रन्थों से अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनमें से अनेक उद्धरण वर्तमान आगमों में नहीं मिलते। आदरणीय पंडितजी ने यहाँ जो "अनेक" शब्द का प्रयोग किया है वह भ्रान्ति उत्पन्न करता है। मैंने अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत आगमिक सन्दर्भों की श्वेताम्बर आगमों से तुलना करने पर स्पष्ट रूप से यह पाया है कि लगभग 90 प्रतिशत सन्दर्भों में आगमों की अर्धभागधी प्राकृत पर शौरसेनी प्राकृत के प्रभाव के फलस्वरूप हुए आंशिक पाठभेद को छोड़कर कोई अन्तर नहीं है! जहाँ किंचित् पाठभेद है वहाँ भी अर्थ-भेद नहीं है। आदरणीय पंडितजी ने इस ग्रन्थ में भगवतीआराधना की विजयोदया टीका (पृ. 320-327) से एक उद्धरण दिया है, जो वर्तमान आचारांग में नहीं मिलता है। उनके द्वारा प्रस्तुत वह उद्धरण निम्न है--

तथा द्योतमाचारङ्गे -- सुदं *आउस्स्तो* भगवदा एवमक्खादा इह खलु संयमाभिमुख दुविहा इत्थी पुरिसा जादा हवति । तं जहा सक्वसमण्णागदे णो सक्वसमण्णागदे चेव । तत्थ जे सक्वसमण्णागदे थिणा* हत्थपाणीपादे सक्विदिय समण्णागदे तस्स णं णां कप्पदि एगमवि वत्थ धारिउं एव परिहिउं एवं अण्णत्थ एणेण पडिलेहगेण इति ।

निश्चय ही उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में इसी रूप में शब्दशः नहीं है किन्तु "सक्वसमन्नागय" नामक पद और उक्त कथन का भाव आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्याय में आज भी सुरक्षित है। अतः इस आधार पर यह कल्पना करना अनुचित होगा कि यापनीय परम्परा का आचारांग, वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध आचारांग से भिन्न था। क्योंकि अपराजितसूरि द्वारा उद्धृत आचारांग के अन्य सन्दर्भ आज भी श्वेताम्बर परम्परा के इसी आचारांग में उपलब्ध हैं। अपराजित ने आचारांग के "लोकविचय" नामक द्वितीय अध्याय के पंचम उद्देशक का उल्लेखपूर्वक जो उद्धरण दिया है, वह आज भी उसी अध्याय के उसी उद्देशक में उपलब्ध है। इसी प्रकार उसमें "अहं पुण एव जाणेज्ज उपातिक्ते हेमते-- ठविज्ज" जो यह पाठ आचारांग से उद्धृत है-- वह भी वर्तमान आचारांग के अष्टम अध्याय के चतुर्थ उद्देशक में है। उत्तराध्यायन, सूत्रकृतांग, कल्प आदि के सन्दर्भों की भी न्याय्य यही स्थिति है। अब हम उत्तराध्यायन के सन्दर्भों पर विचार करेंगे। आदरणीय पंडितजी ने जैन साहित्य की पूर्वपीठिका में अपराजित की भगवतीआराधना की टीका की निम्न दो गाथाएँ उद्धृत की हैं--

परिचल्लेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए ।
अचेलपवरे भिक्खु जिणरूपधरे सदा ॥
सवेलगो सुखी भवदि असुखी वा वि अचेलगो ।
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खु न चितए ॥

पंडितजी ने इन्हें उत्तराध्ययन की गाथा कहा है और उन्हें वर्तमान उत्तराध्ययन में अनुपलब्ध भी बताया है। किन्तु जब हमने स्वयं पंडितजी द्वारा ही सम्पादित एवं अनुवादित भगवतीआराधना की टीका देखी तो उसमें इन्हें स्पष्ट रूप से उत्तराध्ययन की गाथायें नहीं कहा गया है। उसमें मात्र "इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति" कहकर इन्हें उद्धृत किया गया है। आदरणीय पंडितजी की यह भ्रान्ति कैसे हो गई, हम नहीं जानते। पुनः ये गाथाएँ भी चाहे शब्दशः उत्तराध्ययन में न हों, किन्तु भावरूप से तो दोनों ही गाथाएँ और शब्द-रूप से इनके आठ चरणों में से चार चरण तो उपलब्ध ही हैं। उपरोक्त उद्धृत गाथाओं से तुलना के लिए उत्तराध्ययन की ये गाथाएँ प्रस्तुत हैं--

"परिजुणोहिं वत्थेहिं होक्खामि ति अचेलए ।
अदुवा "सचेलए होक्खं" इदं भिक्खु न विन्तए ॥
"एगया अचेलए होइ सचेले यावि एगया ।"
एयं धम्महियं नट्ठया नाणी तो परिदेवए ॥

-- उत्तराध्ययन, 2/12-13

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में ही घूर्णि में आगत पाठों और शीलांक या अभयदेव की टीका में आगत पाठों में अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत की दृष्टि से पाठभेद रहा है, उसी प्रकार यापनीय परम्परा के आगत के पाठ माथुरी वाचना के होने के कारण शौरसेनी प्राकृत से युक्त रहे होंगे। किन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि प्राचीन स्तर के सभी आगत ग्रन्थ मूलतः अर्धमागधी के रहे हैं। उनमें जो महाराष्ट्री या शौरसेनी के शब्द-रूप उपलब्ध होते हैं, वे परवर्ती हैं। विजयोदया में आचारांग आदि के सभी आगमिक सन्दर्भों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पूर्णतः शौरसेनी प्रभाव से युक्त हैं। मूलतः आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगत तो निश्चित ही अर्धमागधी में रहे हैं। यहाँ दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं, प्रथम यही है कि माथुरी वाचना के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया हो और यापनीयों ने उसे मान्य रखा हो। दूसरे यह है कि यापनीयों द्वारा उन आगमों का शौरसेनीकरण करते समय श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आचारांग आदि से उनमें पाठभेद हो गया हो, किन्तु इस आधार पर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा के आगत भिन्न थे। ऐसा पाठभेद तो एक ही परम्परा के आगमों में भी उपलब्ध है। स्वयं पं. कैलाशचन्द्रजी ने अपने ग्रन्थ जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका में अपराजितसूरि की भगवतीआराधना की टीका से आचारांग का जो उपर्युक्त पाठ दिया है, उसमें और स्वयं उनके द्वारा सम्पादित भगवतीआराधना की अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत पाठ में ही अन्तर है-- एक में "धीण" पाठ है-- दूसरे में "धीरांग" पाठ है, जिससे अर्थ-भेद भी होता है। एक ही लेखक और

सम्पादक की कृति में भी पाठभेद हो तो भिन्न परम्पराओं में किंचित् पाठभेद होना स्वाभाविक है, किन्तु उससे उनकी पूर्ण भिन्नता की कल्पना नहीं की जा सकती है। पुनः यापनीय परम्परा द्वारा उद्धृत आचार्यग, उत्तराध्ययन आदि के उपर्युक्त पाठों की अचेतकत्व की अवधारणा का प्रश्न है, वह श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में आज भी उपलब्ध है।

इसी प्रसंग में उत्तराध्ययन की जो अन्य गाथायें उद्धृत की गई हैं, वे आज भी उत्तराध्ययन के 23वें अध्ययन में कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध हैं। आराधना की टीका में उद्धृत इन गाथाओं पर भी शौरसेनी का स्पष्ट प्रभाव है। यह भी स्पष्ट है कि मूल उत्तराध्ययन अर्धभागधी की रचना है। इससे ऐसा लगता है कि यापनीयों ने अपने समय के अविभक्त परम्परा के आगमों को मान्य करते हुए भी उन्हें शौरसेनी प्राकृत में स्पान्तरित करने का प्रयास किया था, अन्यथा अपराजित की टीका में मूल आगमों के उद्धरणों का शौरसेनी रूप न मिलकर अर्धभागधी रूप ही मिलता। इस सम्बन्ध में पं. नाथूरामजी प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 60) का निम्न वक्तव्य विचारणीय है--

"श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य जो आगम ग्रन्थ हैं, यापनीय संघ शायद उन सभी को मानता था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनों के आगमों में कुछ पाठभेद था और उसका कारण यह हो कि उपलब्ध वल्लभी वाचना के पहले की कोई वाचना (संभवतः माथुरी वाचना) यापनीय संघ के पास थी, क्योंकि विजयोदया टीका में आगमों के जो उद्धरण हैं वे श्वेताम्बर आगमों में बिल्कुल ज्यों के त्यों नहीं बल्कि कुछ पाठभेद के साथ मिलते हैं। यापनीयों के पास स्कंदिल की माथुरी वाचना के आगम थे यह मानने में एक बाधा आती है, वह यह कि स्कंदिल की वाचना का काल वीरनिर्वाण 827-840 अर्थात् ईसा की तृतीय शती का अन्त और चतुर्थशती का प्रारम्भ है, जबकि संघभेद उसके लगभग 200 वर्ष पहले ही घटित हो चुका था। किन्तु पं. नाथूरामजी यह शंका इस आधार पर निरस्त हो जाती है कि वास्तविक सम्प्रदाय-भेद ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी में न होकर पाँचवीं शती में हुआ। यद्यपि यह माना जाता है कि फल्गुमित्र की परम्परा की कोई वाचना थी, किन्तु इस वाचना के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि यापनीय आगम वही थे, जो उन नामों से आज श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध हैं। मात्र उनमें किंचित् पाठभेद था तथा भाषा की दृष्टि से शौरसेनी का प्रभाव अधिक था। यापनीय ग्रन्थों में आगमों के जो उद्धरण मिलते हैं उनमें कुछ तो वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में अनुपलब्ध हैं, कुछ पाठान्तर के साथ उपलब्ध हैं। जो अनुपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में दो विकल्प हैं-- प्रथम यह कि मूलागमों के वे अंश बाद के श्वेताम्बर आचार्यों ने अगली वाचना में निकाल दिये और दूसरा यह कि वे अंश यापनीय मान्यता के प्रक्षिप्त अंश हों। किन्तु प्रथम विकल्प में इसलिए विश्वास नहीं होता कि यदि परवर्ती वाचनाओं में वे सब बातें, जो उस युग के आचार्यों को मान्य नहीं थीं या उनकी परम्परा के विरुद्ध थीं, निकाल दी गई होतीं तो वर्तमान श्वेताम्बर आगमों में अचेतता के समर्थक सभी अंश निकाल दिये जाने चाहिए थे। मुझे ऐसा लगता है कि आगमों की वाचनाओं (संकलन) के समय केवल वे ही अंश नहीं

आ पाये थे जो विस्मृत हो गये थे अथवा पुनरावृत्ति से बचने के लिए "जाव" पाठ देकर वहाँ से हटा दिये गये थे। मान्यता भेद के कारण कुछ अंश जानबूझकर निकाले गये हों, ऐसा कोई भी विश्वसनीय प्रमाण हमें नहीं मिलता है। किन्तु यह हो सकता है कि वे अंश किसी अन्य गण की वाचना के रहे हों, जिनके प्रतिनिधि उस वाचना में सम्मिलित नहीं थे। कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं कि विभिन्न गणों में वाचना-भेद या पाठभेद होता था। विभिन्न गणों के निर्माण का एक कारण वाचना भेद भी माना गया है। यह कहा जाता है कि महावीर के ग्यारह गणधरों की नौ वाचनाएँ थीं अर्थात् महावीर के काल में भी वाचना-भेद था। क्योंकि प्रत्येक वाचनाचार्य की अध्यापन शैली भिन्न होती थी। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में शब्द के स्थान पर अर्थ पर बल दिया जाता था, तीर्थंकर को अर्थ का प्रवर्तक माना गया था जबकि वैदिक परम्परा शब्द प्रधान थी। यही कारण है कि जैनों ने यह माना कि चाहे शब्द-भेद हो, पर अर्थ-भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि वाचना भेद बढ़ते गये। हमें यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक उद्धरणों से वर्तमान आगमों के पाठों का जो पाठभेद मिलता है उनका कारण वाचना-भेद है, अर्थ-भेद नहीं, क्योंकि ऐसे अनुपलब्ध अंशों या पाठभेदों में विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। किन्तु इस सम्भावना से पूरी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वयं यापनीयों ने भी अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए कुछ अंश जोड़े हों अथवा परिवर्तित किये हों। श्वेताम्बर परम्परा में भी वल्लभी वाचना में या उसके पश्चात् भी आगमों में कुछ अंश जुड़ते रहे हैं-- इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। हम पण्डित कैलाशचन्द्रजी (जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका, पृ. 527) के इस कथन से सहमत हैं कि वल्लभी वाचना के समय और उसके बाद भी आगमों के स्वरूप में कुछ परिवर्तन हुए हैं। किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त "बहुत" शब्द आपत्तिजनक है। फिर भी ध्यान रखना होगा कि इनमें प्रक्षेप ही अधिक हुआ है, विस्मृति को छोड़कर जान-बूझकर निकाला कुछ नहीं गया है।

किन्तु ऐसा प्रक्षेप मात्र श्वेताम्बरों ने किया है और दिगम्बरों तथा यापनीयों ने नहीं किया है-- यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि यापनीय परम्परा ने भी आगमों में अपने अनुकूल कुछ अंश प्रक्षिप्त किये हों। मूलाचार, भगवतीआराधना आदि ग्रन्थों को देखने से ऐसा स्पष्ट लगता है कि उन्होंने अर्धमागधी आगम साहित्य की ही सैकड़ों गाथायें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करके अपने इन ग्रन्थों को रचना की है, मूलाचार का लगभग आधा भाग प्रकीर्णकों, निर्युक्तियों एवं आगमों की गाथाओं से निर्मित है। यह तो निश्चित है कि प्राचीन आगम साहित्य अर्धमागधी में था। यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक सन्दर्भ के सदैव शौरसेनी रूप ही मिलते हैं, जो इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उन्होंने अर्धमागधी आगम साहित्य को शौरसेनी में अपने ढंग से रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया होगा और इस प्रयत्न में उन्होंने अपने मत की पुष्टि का भी प्रयास किया होगा।

अतः इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यापनीय आचार्यों ने भी मूल आगमों के साथ छेड़छाड़ की थी और अपने मत की पुष्टि हेतु उन्होंने उनमें परिवर्तन और प्रक्षेप भी किये।

मात्र श्वेताम्बर और यापनीय ही आगमों के साथ छेड़छाड़ करने के दोषी नहीं हैं, बल्कि दिगम्बर आचार्य और पण्डित भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे हैं। यापनीय ग्रन्थों में दिगम्बर परम्परा के द्वारा जो प्रक्षेपण और परिवर्तन किये गये हैं वे तो और भी अधिक विचारणीय हैं, क्योंकि इनके कारण अनेक यापनीय ग्रन्थों का यापनीय स्वरूप ही विकृत हो गया है। हमारे दिगम्बर विद्वान् श्वेताम्बर ग्रन्थों में प्रक्षेपण की बात तो कहते हैं किन्तु वे इस बात को विस्मृत कर जाते हैं कि स्वयं उन्होंने यापनीय और अपने ग्रन्थों में भी किस प्रकार हेर-फेर किये हैं। इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर विद्वानों का मत प्रस्तुत करना चाहूँगा।

पं. कैलाशचन्द्रजी स्व-सम्पादित "भगवतीआराधना" की प्रस्तावना (पृ. 9) में लिखते हैं-- "विजयोदया के अध्ययन से प्रकट होता है कि उनके सामने टीका लिखते समय जो मूलग्रन्थ उपस्थित था, उसमें और वर्तमान मूल (ग्रन्थ) में अन्तर है। अनेक गाथाओं में वे शब्द नहीं मिलते जो टीकाओं में हैं।"

इससे स्पष्ट होता है कि जब दिगम्बर आचार्यों ने इस यापनीय ग्रन्थ को अपने में समाहित किया होगा तो इसकी मूल गाथाओं के शब्दों में भी हेर-फेर कर दिया होगा। यदि पं. कैलाशचन्द्रजी ने उन सभी स्थलों का जहाँ उन्हें पाठभेद प्रतीत हुआ, निर्देश किया होता तो सम्भवतः हम अधिक प्रामाणिकता से कुछ बात कह सकते थे। टीका और मूल के सारे अन्तरों को हम भी अभी तक खोज नहीं पाये हैं। अतः अभी तो उनके मत को ही विश्वसनीय मानकर संतोष करेंगे। स्वयंभू के रिटठनेभिचरिउ (हरिवंशपुराण) में भी इसी प्रकार की छेड़-छाड़ हुई थी। इस सन्दर्भ में पं. नाथुरामजी प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 202) लिखते हैं-- "इसमें तो संदेह नहीं है कि इस अन्तिम अंश में मुनि जसकित्ति (यशकीर्ति) का भी हाथ है परन्तु यह कितना है यह निर्णय करना कठिन है। बहुत कुछ सोच-विचार के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मुनि जसकित्ति को इस ग्रन्थ की कोई ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली थी जिसके अन्तिम पत्र नष्ट-भ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं, इसलिए उन्होंने गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमरनगरी के जैन मन्दिर में व्याख्यान करने के लिए इसे ठीक किया अर्थात् जहाँ-जहाँ जितना अंश पढ़ा नहीं गया था या नष्ट हो गया था, उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ-जहाँ जोड़ा, वहाँ-वहाँ अपने परिश्रम के एवज में अपना नाम भी जोड़ दिया। इससे स्पष्ट है कि कुछ दिगम्बर आचार्यों ने दूसरों की रचनाओं को भी अपने नाम पर चढ़ा लिया।

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति में भी पर्याप्त रूप से मिलावट हुई है। जहाँ "तिलायपण्णत्ति" का ग्रन्थ-परिमाण 8000 श्लोक बताया गया है वहाँ वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का श्लोक-परिमाण 9340 है अर्थात् लगभग 1340 श्लोक अधिक हैं। पं. नाथुरामजी प्रेमी के शब्दों में -- ये इस बात के संकेत देते हैं कि पीछे से इसमें मिलावट की गयी है। इस सन्दर्भ में पं. फूलचन्द्रशास्त्री के, जैन साहित्य भास्कर, भाग 11, अंक प्रथम में प्रकाशित "वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और

उसके रचनाकार का विचार" नामक लेख के आधार पर वे लिखते हैं-- "उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अपने असल रूप में नहीं रहा है। उसमें न केवल बहुत सा लाभग एक अष्टमांश प्रक्षिप्त है, बल्कि बहुत-सा परिवर्तन और परिशोध भी किया गया है, जो मूल ग्रन्थ कर्ता के अनुकूल नहीं है।" इसी प्रकार कसायपाहुडसुत्त की मूल गाथाएँ 180 थीं, किन्तु आज उसमें 233 गाथाएँ मिलती हैं-- अर्थात् उसमें 53 गाथाएँ परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रक्षिप्त हैं। यही स्थिति कुन्दकुन्द के समयसार, वट्टकेर के मूलाचार आदि की भी है। प्रकाशित संस्करणों में भी गाथाओं की संख्याओं में बहुत अधिक अन्तर है। समयसार के ज्ञानपीठ के संस्करण में 415 गाथाएँ हैं तो अजिताश्रम संस्करण में 437 गाथाएँ। मूलाचार के दिगम्बर जैनग्रन्थमाला के संस्करण में 1242 गाथाएँ हैं तो फल्लण के संस्करण में 1414 गाथाएँ हैं अर्थात् 162 गाथाएँ अधिक हैं, यह सब इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने श्वेताम्बरों और यापनीयों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रक्षेप एवं परिवर्तन किया है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त वर्तमान में भी इस प्रकार के परिवर्तनों के प्रयास हुए हैं। जैसे "धवला" के सम्पादन के समय मूल ग्रन्थ षट्खण्डागम से "संजद" पद को हटा देना, ताकि उस ग्रन्थ के यापनीय स्वरूप या स्त्री-मुक्ति के समर्थक होने का प्रमाण नष्ट किया जा सके। इस सन्दर्भ में दिगम्बर समाज में कितनी उहापोह मची थी और पक्ष-विपक्ष में कितने लेख लिखे गये थे, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यह भी सत्य है कि अन्त में मूलप्रति में "संजद" पद पाया गया। तथापि ताघपत्र वाली प्रति में वह पद नहीं लिखा गया, सम्भवतः भविष्य में वह एक नई समस्या उत्पन्न करेगा। इस सन्दर्भ में भी मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर परम्परा के मान्य विद्वान् पं. कैलाशचन्द्रजी के शब्दों को ही उद्धृत कर रहा हूँ। पं. बालचन्द्रशास्त्री की कृति "षट्खण्डागम-परिशीलन" के अपने प्रधान सम्पादकीय में वे लिखते हैं-- "समूचा ग्रन्थ प्रकाशित होने से पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम भाग के सूत्र 93 में जो पाठ हमें उपलब्ध था, उसमें अर्थ-संगति की दृष्टि से "संजदासंजद" के आगे "संजद" पद जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई, किन्तु इससे फलित होने वाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं से कुछ विद्वानों के मन आलोकित हुए और वे "संजद" पद को वहाँ जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे। इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुए और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखों की श्रृंखलाएँ भी चल पड़ीं, जिनका संग्रह कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुआ। इसके मौखिक समाधान हेतु जब सम्पादकों ने ताडपत्रीय प्रतियों के पाठ की सूक्ष्मता से जाँच करायी तब पता चला कि वहाँ की दोनों भिन्न प्रतियों में हमारा सुझाया गया संजद पद विद्यमान है। इससे दो बातें स्पष्ट हुईं-- एक तो यह कि सम्पादकों ने जो पाठ-संशोधन किया है, वह गम्भीर चिन्तन और समझदारी पर आधारित है और दूसरी यह कि मूल प्रतियों से पाठ मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मूडबिंदी से प्राप्त हुए थे और तृतीय भाग के अन्त में समाविष्ट किये गये थे उनमें यह संशोधन नहीं मिला।"

मेरे उपर्युक्त लेखन का तात्पर्य किसी की भावनाओं को ठेस पहुँचाना नहीं है किन्तु मूलग्रन्थों के साथ ऐसी छेड़-छाड़ करने के लिए श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय-- सभी समानरूप से दोषी हैं। जहाँ श्वेताम्बरों ने अपने ही पूर्व अविभक्त परम्परा के आगमों से ऐसी छेड़-छाड़

की, वहाँ यापनीयों ने श्वेताम्बर मान्य आगमों और आगमिक व्याख्याओं से और दिग्म्बरों ने यापनीय परम्परा के ग्रन्थों से ऐसी ही छेड़-छाड़ की।

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की छेड़-छाड़ प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक होती रही है। कोई भी परम्परा इस सन्दर्भ में पूर्ण निर्दोष नहीं कही जा सकती। अतः किसी भी परम्परा का अध्ययन करते समय यह आवश्यक है कि हम उन प्रक्षिप्त अथवा परिवर्धित अंशों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें, क्योंकि इस छेड़-छाड़ में कहीं कुछ ऐसा अवश्य रह जाता है, जिससे यथार्थता को समझा जा सकता है।

परिवर्धनों और परिवर्तनों के बावजूद भी श्वेताम्बर आगमों की एक विशेषता है, वह यह कि वे सब बातें भी जिनका उनकी परम्परा से स्पष्ट विरोध है, उनमें यथावत् रूप से सुरक्षित हैं। यही कारण है कि श्वेताम्बर आगम जैन धर्म के प्राचीन स्वरूप की जानकारी देने में आज भी पूर्णतया सक्षम हैं। आवश्यकता है निष्पक्ष भाव से उनके अध्ययन की। क्योंकि उनमें बहुत कुछ ऐसा मिल जाता है, जिसमें जैनधर्म के विकास और उसमें आये परिवर्तनों को समझा जा सकता है। यही बात किसी सीमा तक यापनीय और दिग्म्बर ग्रन्थों के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है, यद्यपि श्वेताम्बर साहित्य की अपेक्षा वह अल्प ही है। प्रक्षेप और परिष्कार के बाद भी समग्र जैन साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है, जो सत्य को प्रस्तुत करता है, किन्तु शर्त यही है कि उसका अध्ययन ऐतिहासिक और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से हो, तभी हम सत्य को समझ सकेंगे।

आगमों के विच्छेद की अवधारणा

आगम के विच्छेद की यह अवधारणा जैनधर्म के श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर दोनों ही सम्प्रदायों में उल्लिखित हैं। दिग्म्बर परम्परा में आगमों के विच्छेद की यह अवधारणा तिलोयपण्णत्ति, षट्खण्डागम की धवला टीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि में मिलती है। इन सब ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ति अपेक्षा कृत प्राचीन है। तिलोयपण्णत्ति का रचनाकाल विद्वानों ने ईसा की छठौं-सातवीं शती के लगभग माना है। इसके पश्चात् षट्खण्डागम की धवला टीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि ग्रन्थ आते हैं जो लगभग ई. की नवीं शती की रचनाएँ हैं। हरिवंश पुराण में आगम-विच्छेद की चर्चा को कुछ विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है क्योंकि वह यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है और यापनीयों में नवीं-दसवीं शताब्दी तक आगमों के अध्ययन और उन पर टीका लिखने की परम्परा जीवित रही है। सम्भव यह भी है कि जिस प्रकार श्वेताम्बरों में आगमों के विच्छेद की चर्चा होते हुए भी आगमों की परम्परा जीवित रही उसी प्रकार यापनीयों में भी श्रुत विच्छेद की परम्परा का उल्लेख होते हुए भी श्रुत के अध्ययन एवं उन पर टीका आदि के लेखन की परम्परा जीवित रही है। पुनः हरिवंशपुराण में भी मात्र पूर्व एवं अंग ग्रन्थ के विच्छेद की चर्चा है शेष ग्रन्थ तो ये ही।

इन ग्रन्थों के अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतम, सुधर्मा (लोहार्य) और जम्बू ये तीन आचार्य केवली हुए, इन तीनों का सम्मिलित काल 62 वर्ष माना गया है।

तत्पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच आचार्य चतुर्दश पूर्वों के धारक श्रुतकेवली हुए। इन पाँच आचार्यों का सम्मिलित काल 100 वर्ष है। इस प्रकार भद्रबाहु के काल तक अंग और पूर्व की परम्परा अविच्छिन्न बनी रही। उसके बाद प्रथम पूर्व साहित्य का विच्छेद प्रारम्भ हुआ। भद्रबाहु के पश्चात् विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय बुद्धिल, धर्मसेन और गंगदेव -- ये ग्यारह आचार्य दस पूर्वों के धारक हुए। इनका सम्मिलित काल 183 वर्ष माना गया है। इस प्रकार वीरनिर्वाण के पश्चात् 345 वर्ष तक पूर्वधरों का अस्तित्व रहा। इसके बाद पूर्वधरों के विच्छेद के साथ ही पूर्व ज्ञान का विच्छेद हो गया। इनके पश्चात् नक्षत्र, यशपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस -- ये पाँच आचार्य एकादश अंगों के ज्ञाता हुए। इनका सम्मिलित काल 220 वर्ष माना गया। इस प्रकार भगवान महावीर निर्वाण के 565 वर्ष पश्चात् आचारांग को छोड़कर शेष अंगों का भी विच्छेद हो गया। इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य -- ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए। इनका काल ११८ वर्ष रहा। इस प्रकार वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के पूर्णज्ञाता आचार्यों की परम्परा समाप्त हो गई। इनके बाद आचार्य धरसेन तक अंग और पूर्व के एकदेश ज्ञाता (आंशिकज्ञाता) आचार्यों की परम्परा चली। उसके बाद पूर्व और अंग साहित्य का विच्छेद हो गया। मात्र अंग और पूर्व के आधार पर उनके एकदेश ज्ञाता आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थ ही शेष रहे। अंग और पूर्वधरों की यह सूची हमने हरिवंशपुराण के आधार पर दी है। अन्य ग्रन्थों एवं श्रवण बेलगोला के कुछ अभिलेखों में भी यह सूची दी गयी है किन्तु इन सभी सूचियों में कहीं नामों में और कहीं क्रम में अन्तर है, जिससे इनकी प्रामाणिकता संदेहास्पद बन जाती है। किन्तु जो कुछ साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध है उन्हें ही आधार बनाना होगा अन्य कोई विकल्प भी नहीं है। यद्यपि इन साक्ष्यों में भी एक भी साक्ष्य ऐसा नहीं है, जो सातवीं शती से पूर्व का हो। इन समस्त विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि दिगम्बर परम्परा में श्रुत विच्छेद की इस चर्चा का प्रारम्भ लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में हुआ और उसमें अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की चर्चा हुई है।

श्वेताम्बर परम्परा में पूर्व ज्ञान के विच्छेद की चर्चा तो निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण आदि आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में हुई है। किन्तु अंग-आगमों के विच्छेद की चर्चा मात्र तित्थोगालिय प्रकीर्णक के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। तित्थोगालिय प्रकीर्णक को देखने से लगता है कि यह ग्रन्थ लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में निर्मित हुआ है। इसका रचना काल और कुछ विषय-वस्तु भी तिलोयपण्णत्ति से सम्बन्ध ही है। इस प्रकीर्णक का उल्लेख, नन्दीसूत्र की कालिक और उत्कालिक ग्रन्थों की सूची में नहीं है किन्तु व्यवहारभाष्य (10/704) में इसका उल्लेख हुआ है। व्यवहारभाष्य स्पष्टतः सातवीं शताब्दी की रचना है। अन्ततः तित्थोगालिय पाँचवीं शती के पश्चात् तथा सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में निर्मित हुआ होगा। यही काल तिलोयपण्णत्ति का भी है। इन दोनों ग्रन्थों में ही सर्वप्रथम श्रुत के विच्छेद की चर्चा है। तित्थोगालिय में तीर्थंकरों की माताओं के चौदह स्वप्न, स्त्री-मुक्ति तथा दस आश्चर्यों का उल्लेख होने से एवं नन्दीसूत्र, अनुयोगपत्र तथा आक्षय्यकनिर्युक्ति से इसमें

अनेक गाथाएँ अवतरित किये जाने से यही सिद्ध होता है कि यह श्वेताम्बर ग्रन्थ है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णक रूप में इसकी आज भी मान्यता है। इस ग्रन्थ की गाथा 807 से 857 तक में न केवल पूर्वी के विच्छेद की चर्चा है अपितु अंग साहित्य के विच्छेद की भी चर्चा है।

तित्थोगालिय एवं अन्य ग्रन्थों के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आर्य भद्रबाहु हुए। आर्य भद्रबाहु स्वर्गवास के साथ ही चतुर्दश पूर्वधरों की परम्परा समाप्त हो गयी। इनका स्वर्गवास काल वीरनिर्वाण के 170 वर्ष पश्चात् माना जाता है। इसके पश्चात् स्थूलिभद्र दस पूर्वी के अर्थ सहित और शेष चार पूर्वी के मूल मात्र के ज्ञाता हुए। यथार्थ में तो वे दस पूर्वी के ही ज्ञाता थे। तित्थोगालिय में स्थूलिभद्र को दस पूर्वधरों में प्रथम कहा गया है। उसमें अन्तिम दसपूर्वी सत्यमित्र पाठभेद से सर्वमित्र को बताया गया है, किन्तु उनके काल का निर्देश नहीं किया गया है। उसके बाद उस ग्रन्थ में यह उल्लेखित है कि अनुक्रम से भगवान महावीर के निर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् वाचक वृषभ के समय में पूर्वगत् श्रुत का विच्छेद हो जायेगा। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दस पूर्वधरों के पश्चात् भी पूर्वधरों की परम्परा चलती रही है, श्वेताम्बरों में अभिन्न-अक्षर दसपूर्वधर और भिन्न-अक्षर दसपूर्वधर, ऐसे दो प्रकार के वर्गों का उल्लेख है, जो सम्पूर्ण दस पूर्वी के ज्ञाता होते, वे अभिन्न-अक्षर दसपूर्वधर कहे जाते थे और जो आंशिक रूप से दस पूर्वी के ज्ञाता होते थे, उन्हें भिन्न-अक्षर दसपूर्वधर कहा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्दश पूर्वधरों के विच्छेद की इस चर्चा में दोनों परम्परा में अन्तिम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु को ही माना गया है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण के 170 वर्ष पश्चात् और दिगम्बर परम्परा के अनुसार 162 वर्ष पश्चात् चतुर्दश पूर्वधरों का विच्छेद हुआ। यहाँ दोनों परम्पराओं में मात्र आठ वर्षों का अन्तर है। किन्तु दस पूर्वधरों के विच्छेद के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में कोई समरूपता नहीं देखी जाती है। श्वेताम्बर परम्परानुसार आर्य सर्वमित्र और दिगम्बर परम्परा के अनुसार आर्य धर्मसेन या आर्य सिद्धार्थ अन्तिम दस पूर्वी हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आर्य सर्वमित्र को अन्तिम दस पूर्वधर कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में भगवतीआराधना के कर्त्ता शिवार्थ के गुरुओं के नामों में सर्वगुप्तगणि और मित्रगणि नाम आते हैं किन्तु दोनों में कोई समरूपता हो यह निर्णय करना कठिन है। दिगम्बर परम्परा में दस पूर्वधरों के पश्चात् एकदेश पूर्वधरों का उल्लेख तो हुआ है किन्तु उनकी कोई सूची उपलब्ध नहीं होती। अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की तुलना कर पाना सम्भव नहीं है।

पूर्व साहित्य के विच्छेद की चर्चा के पश्चात् तित्थोगालिय में अंग साहित्य के विच्छेद की चर्चा हुई है, जो निम्नानुसार है--

उसमें उल्लिखित है कि वीरनिर्वाण के 1250 वर्ष पश्चात् विपाकसूत्र सहित छः अंगों का विच्छेद हो जायेगा। इसके पश्चात् वीरनिर्वाण सं. 1300 में समवायांग का, वीरनिर्वाण सं. 1350 में स्थानांग का, वीरनिर्वाण सं. 1400 में कल्प-व्यवहार का, वीरनिर्वाण सं. 1500 में

आचार्यदशा का, वीरनिर्वाण सं. 1900 में सूत्रकृतांग का और वीरनिर्वाण सं. 2000 में निशीथसूत्र का विच्छेद होगा। ज्ञातव्य है कि इसके पश्चात् लगभग अठारह हजार वर्ष तक विच्छेद की कोई चर्चा नहीं है। फिर वीरनिर्वाण सं. 20,000 में आचारांग का, वीरनिर्वाण सं. 20500 में उत्तराध्ययन का, वीरनिर्वाण सं. 20900 में दशवैकालिक मूल का और वीरनिर्वाण सं. 21,000 में दशवैकालिक के अर्थ का विच्छेद होगा -- यह कहा गया है।

ज्ञातव्य है कि पण्डित दलसुखभाई ने जैन साहित्य के बृहद् इतिहास की भूमिका (पृ. 61) में आचारांग का विच्छेद वीरनिर्वाण के 2300 वर्ष पश्चात् लिखा है किन्तु मूल गाथा से कहीं भी यह अर्थ फलित नहीं होता। उन्होंने किस आधार पर यह अर्थ किया यह हम नहीं जानते हैं। हो सकता है कि उनके पास इस गाथा का कोई दूसरा पाठान्तर रहा हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग आगमों के विच्छेद की चर्चा श्वेताम्बर परम्परा में भी चली है, किन्तु इसके बावजूद भी श्वेताम्बर परम्परा ने अंग साहित्य को, चाहे आंशिक रूप से ही क्यों न हो, सुरक्षित रखने का प्रयास किया है।

प्रथम तो प्रश्न यह है कि क्या विच्छेद का अर्थ तत्-तत् ग्रन्थ का सम्पूर्ण रूप से विनाश है? मेरी दृष्टि में विच्छेद का अर्थ यह नहीं कि उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण लोप हो गया। मेरी दृष्टि में विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में भी जो अंग साहित्य आज अवशिष्ट हैं वे उस रूप में तो नहीं हैं जिस रूप से उनकी विषय-वस्तु का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है। यह सत्य है कि न केवल पूर्व साहित्य का अपितु अंग साहित्य का भी बहुत कुछ अंश विच्छिन्न हुआ है। आज आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का सातवाँ महापरिज्ञा नामक अध्याय अनुपलब्ध है। भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, अनुतरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकदशा आदि ग्रन्थों की भी बहुत कुछ सामग्री विच्छिन्न हुई है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि स्थानांग में दस दशाओं की जो विषय-वस्तु वर्णित है, वह उनकी वर्तमान विषय-वस्तु से मेल नहीं खाती है। उनमें जहाँ कुछ प्राचीन अध्ययन विलुप्त हुए हैं, वहीं कुछ नवीन सामग्री समाविष्ट भी हुई है। अन्तिम वाचनाकार देवर्दिगणि ने स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मुझे जो भी त्रुटित सामग्री मिली है, उसको ही मैंने संकलित किया है। अतः आगम ग्रन्थों के विच्छेद की जो चर्चा है, उसका अर्थ यही लेना चाहिये कि यह श्रुत-संपदा यथावत् रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी। वह आंशिक रूप से विस्मृति के गर्भ में चली गई। क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक यह साहित्य मौखिक रहा और मौखिक परम्परा में विस्मृति स्वाभाविक है। विच्छेद का क्रम तभी सका जब आगमों को लिखित रूप दे दिया गया।

दिगम्बर परम्परा में श्रुत-विच्छेद सम्बन्धी यह जो चर्चा है उसके सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि उसमें श्रुतधरों के अर्थात् श्रुत के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की चर्चा हुई है न कि श्रुत ग्रन्थों के विच्छेद चर्चा हुई है। दूसरे यह कि पूर्व और अंग के इस विच्छेद की

चर्चा में भी पूर्व और अंगों के एकदेश ज्ञाता आचार्यों का अस्तित्व तो स्वीकार किया ही गया है। धरसेन के सम्बन्ध में भी मात्र यह कहा गया है कि वे अंग और पूर्वी के एकदेश ज्ञाता थे। इनके बाद अंग-एवं पूर्व के एकदेश ज्ञाता आचार्यों की परम्परा भी समाप्त हो गयी हो, ऐसा उल्लेख हमें किसी भी दिगम्बर ग्रन्थ में नहीं मिला। यही कारण है कि पं. दलसुखभाई मालवणिया (वही, पृ. 62) आदि कुछ विद्वान इन उल्लेखों को श्रुतधरों के विच्छेद का उल्लेख मानते हैं न कि श्रुत के विच्छेद का पुनः इस चर्चा में मात्र पूर्व और अंग साहित्य के विच्छेद की ही चर्चा हुई है। कालिक और उत्कालिक सूत्रों के अथवा छेदसूत्रों के विच्छेद की कहीं कोई चर्चा दिगम्बर परम्परा में नहीं उठी है। दुर्भाग्य यह है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्रुतधरों के विच्छेद को ही श्रुत का विच्छेद मान लिया और कालिक, उत्कालिक आदि आगमों के विच्छेद की कोई चर्चा न होने पर भी उनका विच्छेद स्वीकार कर लिया। यह सत्य है कि जब श्रुत के अध्ययन की परम्परा मौखिक हो तो श्रुतधर के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद मानना होगा किन्तु जब श्रुत लिखित रूप में भी हो, तो श्रुतधर के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद नहीं माना जा सकता। दूसरे मौखिक परम्परा से चले आ रहे श्रुत में विस्मृति आदि के कारण किसी अंश-विशेष के विच्छेद को पूर्ण विच्छेद मानना भी समीचीन नहीं है। विच्छेद की इस चर्चा का तात्पर्य मात्र यही है कि महावीर की यह श्रुत-सम्पदा अक्षुण्ण नहीं रह सकी और उसके कुछ अंश विलुप्त हो गये। अतः आंशिक रूप में जिनवाणी आज भी है, इसे स्वीकार करने में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं होना चाहिये।

अर्धमागधी आगमों की विषय-वस्तु सरल है

अर्धमागधी आगम साहित्य की विषय-वस्तु मुख्यतः उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। भगवती के कुछ अंश, प्रज्ञापना, अनुयोगद्धार, जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती है, को छोड़कर उनमें प्रायः गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। विषय-प्रतिपादन सरल, सहज और सामान्य व्यक्ति के लिए भी बोधगम्य है। वह मुख्यतः विवरणात्मक एवं उपदेशात्मक है। इसके विपरीत शौरसेनी आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा से युक्त है। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक हैं। गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराईयों, जो शौरसेनी आगमों में उपलब्ध हैं, अर्धमागधी आगमों में उनका प्रायः अभाव ही है। कुन्दकुन्द के समयसार के समान उनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का भी कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि ये सब उनकी कमी भी कही जा सकती है, किन्तु चिन्तन के विकास क्रम की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य प्राथमिक स्तर का होने से प्राचीन भी है और साथ ही विकसित शौरसेनी आगमों के लिए आधार भूत भी। समवायांग में जीवस्थानों के नाम से 14 गुणस्थानों का मात्र निर्देश है, जबकि षट्खण्डागम जैसा प्राचीन शौरसेनी आगम भी उनकी गम्भीरता से चर्चा करता है। मूलाचार, भगवतीआराधना, कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और गोम्मतसार आदि सभी में गुणस्थानों की विस्तृत चर्चा है। चूँकि तत्त्वार्थ में गुणस्थानों की चर्चा का एवं स्याद्वाद-सप्तभंगी का अभाव है, अतः ये सभी

रचनाएँ तत्त्वार्थ के बाद की कृतियाँ मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार कषायपाहुड, षट्खण्डागम, गोम्मट्टसार आदि शौरसेनी आगम ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त की जो गहन चर्चा है, वह भी अर्धमागधी आगम साहित्य में अनुपलब्ध है। अतः शौरसेनी आगमों की अपेक्षा अर्धमागधी आगमों की सरल, बोधगम्य एवं प्राथमिक स्तर की विवरणात्मक शैली उनकी प्राचीनता की सूचक है।

तथ्यों का सहज संकलन

अर्धमागधी आगमों में तथ्यों का सहज संकलन किया गया है अतः अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। वस्तुतः ये ग्रन्थ अकृत्रिम भाव से रचे गये हैं और उन्हें उनके सम्पादन काल में भी संगतियुक्त बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। एक ओर उत्सर्ग की दृष्टि से उनमें अहिंसा के सूक्ष्मता के साथ पालन करने के निर्देश हैं तो दूसरी ओर अपवाद की अपेक्षा से ऐसे अनेक विवरण भी हैं जो इस सूक्ष्म अहिंसक जीवनशैली के अनुकूल नहीं हैं। इसी प्रकार एक ओर उनमें मुनि की अचेतता का प्रतिपादन समर्थन किया गया है, तो दूसरी ओर वस्त्र, पात्र के साथ-साथ मुनि के उपकरणों की लम्बी सूची भी मिल जाती है। एक ओर केशलोच का विधान है तो दूसरी क्षुर-मुण्डन की अनुज्ञा भी है। उत्तराध्ययन में वेदनीय के भेदों में क्रोध वेदनीय आदि का उल्लेख है, जो कि कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों में यहाँ तक कि स्वयं उत्तराध्ययन के कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में भी अनुपलब्ध है, उक्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य जैन संघ का, निष्पक्ष इतिहास प्रस्तुत करता है। तथ्यों का यथार्थ रूप में प्रस्तुतीकरण उसकी अपनी विशेषता है। वस्तुतः तथ्यात्मक विविधताओं एवं अन्तर्विरोधों के कारण अर्धमागधी आगम साहित्य के ग्रन्थों के काल क्रम का निर्धारण भी सहज हो जाता है।

अर्धमागधी आगमों में जैनसंघ के इतिहास का प्रामाणिक रूप

यदि हम अर्धमागधी आगमों का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करें, तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा के आचार एवं विचार में देशकालगत परिस्थितियों के कारण कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुए इसको जानने का आधार अर्धमागधी आगम ही है, क्योंकि इन परिवर्तनों को समझने के लिए उनमें उन तथ्यों के विकास क्रम को खोजा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जैनधर्म में साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़-मूल होता गया, इसकी जानकारि ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग और भगवती के पन्द्रहवें शतक के समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है। ऋषिभाषित में नारद, मंखलिगोशाल, असितदेवत्, तारायण, याज्ञवल्क्य, बाहुक आदि ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है। उत्तराध्ययन में भी कपिल, नमि, करकण्डु, नगति, गर्दभाली, संजय आदि का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया और सूत्रकृतांग में इनमें से कुछ को आचारभेद के बावजूद भी परम्परा-सम्मत माना गया। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा में नारद की और भगवती के पन्द्रहवें शतक में मंखली गोशाल की समालोचना भी की गई है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जैन परम्परा में अन्य

परम्पराओं के प्रति उदारता का भाव कैसे परिवर्तित होता गया और साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढमूल होते गये, इसका यथार्थ चित्रण उनमें उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारचूला, दशवैकालिक, निशीथ आदि छेदसूत्र तथा उनके भाष्य और चूर्णियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुआ है। इसी प्रकार ऋषिभाषित उत्तराध्ययन, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा आदि के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पार्श्वार्थियों का महावीर के संघ पर क्या प्रभाव पड़ा और दोनों के बीच सम्बन्धों में कैसे परिवर्तन होता गया। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न, जिनके कारण आजका जैन समाज साम्प्रदायिक कठघरों में बन्द है, अर्धमागधी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन के माध्यम से सुलझाये जा सकते हैं। शौरसेनी आगमों में मात्र मूलाचार और भगवतीआराधना को, जो अपनी विषय-वस्तु के लिये अर्धमागधी आगम साहित्य के ऋणी हैं, इस कोटि में रखा जा सकता है, किन्तु शेष आगमतुल्य शौरसेनी ग्रन्थ जैनधर्म को सीमित घेरों में आबद्ध ही करते हैं।

अर्धमागधी-आगम शौरसेनी-आगम और परवर्ती महाराष्ट्री व्याख्या साहित्य के आधार

अर्धमागधी-आगम शौरसेनी आगम और महाराष्ट्री आगमिक व्याख्या साहित्य के आधार रहे हैं। अर्धमागधी आगमों की व्याख्या के रूप में क्रमशः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण, वृत्ति, टब्बा आदि लिखे गये हैं, ये सभी जैनधर्म एवं दर्शन के प्राचीनतम स्रोत हैं। यद्यपि शौरसेनी आगम और व्याख्या साहित्य में चिन्तन के विकास के साथ-साथ देश, काल और सहगामी परम्पराओं के प्रभाव से बहुत कुछ ऐसी सामग्री भी है, जो उनकी अपनी मौलिक कह जा सकती है फिर भी अर्धमागधी आगमों को उनके अनेक ग्रन्थों के मूलस्रोत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मात्र मूलाचार में ही तीन सौ से अधिक गाथाएँ उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास, आतुरप्रत्याख्यान, चन्द्रवेद्यक (चन्द्रवेज्जय) आदि में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना में भी अनेक गाथायें अर्धमागधी आगम और विशेष रूप से प्रकीर्णकों (पड़ना) से मिलती हैं। षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में भी जो समानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनकी विस्तृत चर्चा पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने (प्रो. ए.एन. उपाध्ये व्याख्यानमाला में) की है। नियमसार की कुछ गाथाएँ अनुयोगद्वार एवं इतर आगमों में भी पाई जाती हैं, जबकि समयसार आदि कुछ ऐसे शौरसेनी आगम ग्रन्थ भी हैं, जिनकी मौलिक रचना का श्रेय उनके कर्ताओं को ही है। तिलोयपन्नति का प्राथमिक रूप विशेष रूप से आवश्यकनिर्युक्ति तथा कुछ प्रकीर्णकों के आधार पर तैयार हुआ था, यद्यपि बाद में उसमें पर्याप्त रूप से परिवर्तन और परिवर्धन किया गया है। इस प्रकार शौरसेनी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम साहित्य ही रहा है तथापि उनमें जो सैद्धान्तिक गहराईयें और विकास परिलक्षित होते हैं, वे उनके रचनाकारों की मौलिक देन हैं।

अर्धमागधी आगमों का कर्तृत्व अज्ञात

अर्धमागधी आगमों में प्रज्ञापना, दशवैकालिक और छेदसूत्रों के कर्तृत्व छोड़कर शेष के

रचनाकारों के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। यद्यपि दशवैकालिक आर्य श्यम्भक्सूरि की, तीन छेदसूत्र आर्यभद्रबाहु की और प्रज्ञापना श्यामाचार्य की कृति मानी जाती है, महानिशीथ का उसकी दीमकों से भक्षित प्रति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने समुद्धार किया था, यह स्वयं उसी में उल्लेखित है, तथापि अन्य आगमों के कर्ताओं के बारे में हम अन्धकार में ही हैं। सम्भवतः उसका मूल कारण यह रहा होगा कि सामान्यजन में इस बात का पूर्ण विश्वास बना रहे कि अर्धमागधी आगम गणधरो अथवा पूर्वधरो की कृति है, इसलिये कर्ताओं ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया। यह वैसी ही स्थिति है जैसी हिन्दू पुराणों के कर्ता के रूप में केवल वेद व्यास को जाना जाता है। यद्यपि वे अनेक आचार्यों की और पर्याप्त परवर्तीकाल की रचनाएँ हैं।

इसके विपरीत शौरसेनी आगमों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें सभी ग्रन्थों का कर्तृत्व सुनिश्चित है। यद्यपि उनमें भी कुछ परिवर्तन और प्रक्षेप परवर्ती आचार्यों ने किये हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अर्धमागधी आगम की अपेक्षा काफी स्पष्ट है। अर्धमागधी आगमों में तो यहाँ तक भी हुआ है कि कुछ विलुप्त कृतियों के स्थान पर पर्याप्त परवर्ती काल में दूसरी कृति ही रख दी गई। इस सम्बन्ध में प्रश्नव्याकरण की सम्पूर्ण विषय-वस्तु के परिवर्तन की चर्चा पूर्व में ही की जा चुकी है। अमी-अमी अंगचूलिया और बंगचूलिया नामक दो विलुप्त आगमों का पता चला, ये भोगीलाल लेहरचन्द्र भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में उपलब्ध है, जब इनका अध्ययन किया गया तो पता चला कि वे लोकाशाह के पश्चात् अर्थात् सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में किसी अज्ञात आचार्य ने बनाकर रख दिये हैं। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह स्थिति सभी अर्धमागधी आगमों की है। सत्य तो यह है कि उनके प्रक्षेपों और परिवर्तनों को आसानी से पहचाना जा सकता है, जबकि शौरसेनी आगमों में हुए प्रक्षेपों को जानना जटिल है।

आगमों की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में जिस अतिशयता की चर्चा परवर्ती आचार्यों ने की है, वह उनके कथन की विश्वसनीयता पर प्रश्न चिन्ह उपस्थित करती है। हमारी श्रद्धा और विश्वास चाहे कुछ भी हो किन्तु तर्क, बुद्धि और गवेषणात्मक दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आगम साहित्य की विषय-वस्तु को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया। यह कहना कि आचार्याग के आगे प्रत्येक अंग ग्रन्थ की श्लोक संख्या एक दूसरे से क्रमशः द्विगुणित रही थी अथवा 14वें पूर्व की विषय-वस्तु इतनी थी कि उसे चौदह हाथियों के बराबर स्याही से लिखा जा सकता था, विश्वास की वस्तु हो सकती है, किन्तु बुद्धिगम्य नहीं है।

अन्त में विद्वानों से मेरी यह अपेक्षा है कि वे आगमों और विशेष रूप से अर्धमागधी आगमों का अध्ययन श्वेताम्बर, दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी या तेरापंथी दृष्टि से न करें अपितु इन साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर करें, तभी हम उनके माध्यम से जैनधर्म के प्राचीन स्वस्व का यथार्थ दर्शन कर सकेंगे और प्रामाणिक रूप से यह भी समझ सकेंगे कि कालक्रम में उनमें कैसे और क्या परिवर्तन हुए हैं। आज आवश्यकता है पं. बेचरदासजी जैसी निष्पक्ष एवं तटस्थ बुद्धि से उनके अध्ययन की। अन्यथा दिगम्बर को उसमें वस्त्रसम्बन्धी उल्लेख प्रक्षेप

लमंगे, तो श्वेताम्बर सारे वस्त्रपात्र के उल्लेखों को महावीरकालीन मानने लगेगा और दोनों ही यह नहीं समझ सकेंगे कि वस्त्र-पात्र का क्रमिक विकास किन परिस्थितियों और कैसे हुआ है ? इस सम्बन्ध में निर्वृत्त भाष्य, चूर्ण और टीका का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि ये इनके अध्ययन की कुंजिया हैं। शौरसेनी और अर्धमागधी आगमों का तुलनात्मक अध्ययन भी उनमें निहित सत्य को यथार्थ रूप से आलोकित कर सकेगा। आशा है युवा-विद्वान् मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

जैन आगम साहित्य का परिचय देने के उद्देश्य से सम्प्रतिकाल में अनेक प्रयत्न हुए हैं। सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों में हर्मन जेकोबी शूब्रिंग, विन्टरनित्ज आदि ने अपनी भूमिकाओं एवं स्वतन्त्र निबन्धों में इस पर प्रकाश डाला। इस दिशा में अंग्रेजी में सर्वप्रथम हीरालाल रासिकलाल कापडिया ने A History of the Cononical Literature of the Jainas नामक पुस्तक लिखी। यह ग्रन्थ अत्यन्त शोधपरक दृष्टि से लिखा गया और आज भी एक प्रमाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्य किया जाता है। इसके पश्चात् प्रो. जगदीशचन्द्र जैन का ग्रन्थ 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' भी इस क्षेत्र में दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पार्श्वनाथ विद्याभ्रम शोध संस्थान की जैन साहित्य का बृहद् इतिहास योजना के अन्तर्गत प्रकाशित प्रथम तीनों खण्डों में प्राकृत आगम साहित्य का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इसी दिशा में आचार्य देवेन्द्रमुनिशास्त्री की पुस्तक जैनागम मनन और मीमांसा भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। मुनि नगराजजी की पुस्तक जैनागम और पाली-त्रिपिटक भी तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पं. कैलाशचन्द्रजी द्वारा लिखित जैन साहित्य के इतिहास की पूर्व पीठिका में अर्धमागधी आगम साहित्य का और उसके प्रथम भाग में शौरसेनी आगम साहित्य का उल्लेख हुआ है किन्तु उसमें निष्पक्ष दृष्टि का निर्वाह नहीं हुआ है और अर्धमागधी आगम साहित्य के मूल्य और महत्त्व को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा गया है।

पूज्य आचार्य श्री जयन्तसेनसुरिजी ने प्रस्तुत कृति की सृजना जन-साधारण को आगम साहित्य की विषय-वस्तु का परिचय देने के उद्देश्य की है, किन्तु जब मैंने इस कृति को देखा तो मुझे लगा कि उन्होंने पूरी प्रामाणिकता के साथ संशोधनात्मक दृष्टि का भी निर्वाह किया है, जो उनकी सहज विद्वत्ता की परिचायक है। साथ ही उन्होंने इसके लेखन में अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से भी मुक्त रखा है, इससे उनकी उदार एवं व्यापक दृष्टि का परिचय भी मिल जाता है। प्रस्तुत कृति बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय अर्धमागधी आगमों के महत्त्व, प्रमाण्य, वर्गीकरण एवं रचनाकाल का उल्लेख करते हैं। इस चर्चा में आचार्य श्री ने पूर्णतः अन्वेषक दृष्टि का निर्वाह किया है। अध्याय क्रमांक चार से सात तक चार अध्यायों में आगमों की विषय-वस्तु का विवरण दिया गया है। आठवाँ अध्याय आगमिक व्याख्या साहित्य से सम्बन्धित है। नवें अध्याय में आगम में वर्णित समाज-व्यवस्था का, दसवें में शासन-व्यवस्था का, ग्यारहवें में अर्थ-व्यवस्था का और बारहवें में धर्म-व्यवस्था का चित्रण है। ये अन्तिम चार अध्याय सामान्य पाठक द्वारा आगमों के मूल्य एवं महत्त्व को समझने में अति सहायक है। आशा है, पाठकाण इस कृति के पठन से आगमों के विषय का सहज ही

रसास्वादन कर सकेंगे। इस हेतु हम आचार्यश्री के आभारी रहेंगे कि उन्होंने आगमों की विषय-वस्तु को सहज और बोधगम्य रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मैं व्यक्तिगत रूप से भी आचार्यश्री का आभारी हूँ कि उन्होंने भूमिका लिखने के माध्यम से मुझे आगम-साहित्य के आलोचन का सहज अवसर दिया।

● प्रो. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी